कल्याण
वर्ष २०
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

## विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१३, जून १९५६



### चित्र-सूची

तिरंगा



जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥


वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

घुटरुन चलत रामचंद्र बाजत पैंजनिया

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
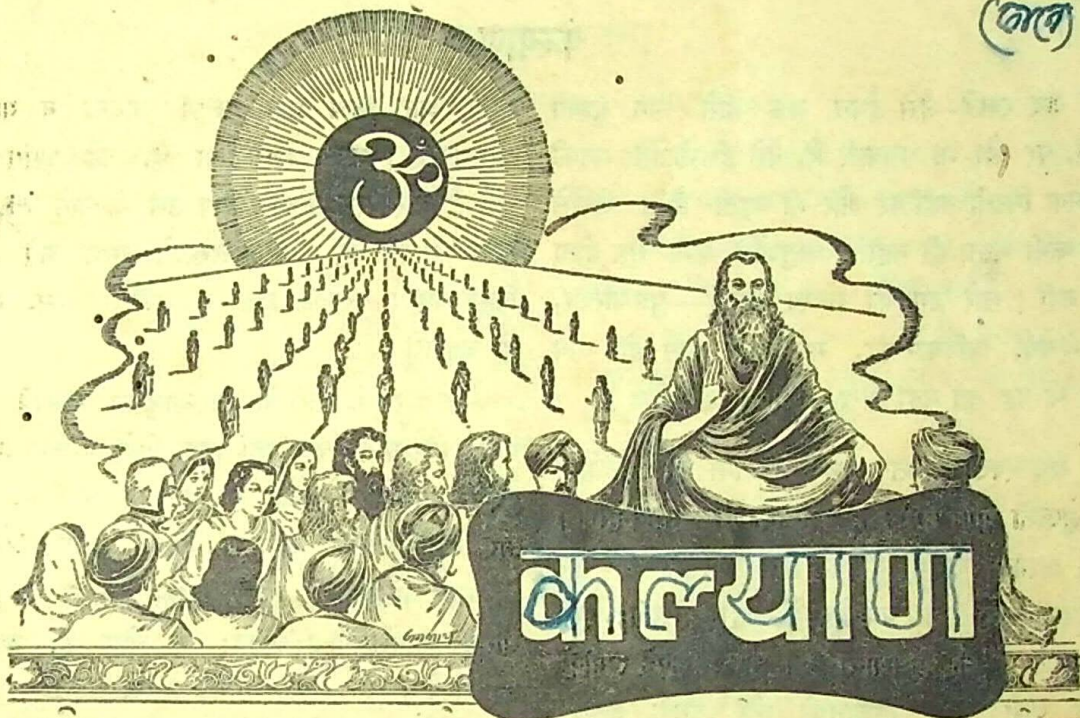
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर आषाढ २०१३, जून १९५६ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ३५५

# घुटनोंके बल चलते हुए बाल राम

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गभीर जान जेहिं देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हियँ हरि नख अति सोभा रूरी ॥
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा ॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥

याद रक्खो—जैसे ईंधन तथा घीसे आग बुझती नहीं, पर और भी धधकती है, वैसे ही भोगोंसे मनकी कामना मिटती नहीं वरं और भी बढ़ती है। भोगोंसे मन कभी भरता ही नहीं। वस्तुओंसे कभी तृप्त होता ही नहीं। सारे जगत्‌की समस्त वस्तुएँ—पुत्र-परिवार, धन-ऐश्वर्य, अधिकार-पद, मान-कीर्ति प्राप्त हो जाय तब भी वह तृप्त नहीं होगा——**शान्त नहीं होगा।**

याद रक्खो—जबतक मनमें अशान्ति है, तबतक न तो सुखकी प्राप्ति होगी, न आनन्दका ही अनुभव होगा। जैसे अशान्त वायुमें दीपक हिलता रहता है और समीपकी वस्तु भी यथार्थरूपमें नहीं दीखती; इसी प्रकार व्यग्र और अशान्त मन नित्य अपने समीपमें स्थित परम वस्तु भगवान्‌को और उनके अखण्ड सुख-स्वरूपको नहीं देख पाता तथा बाहर सारे जगत्‌में खोजता फिरता है। इसलिये मनको इच्छारहित करनेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—संतोषसे ही इच्छाका नाश होता है। संतोष न तो आलस्यका नाम है, न उद्यमहीनताका और न असफल-जीवनकी निराशाका ही। वस्तुकी बड़ी चाह थी, प्रयत्न करके थक गये—नहीं मिली, चलो संतोष करो—यह संतोष नहीं है। मनमें इच्छा बनी है तबतक संतोष कैसा। संतोष तो सुख तथा आनन्द-की अनुभूतिका परम साधन है, जो भगवान्‌के मङ्गल-विधानपर विश्वास करनेसे या आत्माकी नित्य-सुखरूपतामें स्थित होनेसे प्राप्त होता है।

याद रक्खो—अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम ही असंतोष है। अप्राप्त वस्तुके लिये आतुर रहना और नित्य प्राप्त वस्तुमें आनन्द न मानना असंतोष है। आत्मा नित्य प्राप्त है, वह असंग है, मुक्त है और परम सुखरूप है। उस आत्मामें ही तृप्त रहना संतोष है। आत्मस्वरूपमें रमण करो और किसी बाहरी वस्तुकी इच्छा न करो। बस, सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—शरीरके प्रारब्धानुसार संसारमें जो पदार्थ मिलना है, वह बिना इच्छा किये—बिना आतुर हुए भी मिलेगा ही और जो प्रारब्धमें नहीं है, वह लाख रोने, आर्तनाद करने या विविध उपाय करनेपर भी नहीं मिलेगा। अपने पूर्वकृत कर्मके अनुसार भोगकी प्राप्ति होगी। वस्तुतः जो बोया है, उसीको काटना है।

याद रक्खो—परम सुखकी प्राप्तिके लिये इच्छामात्रका ही त्याग करना आवश्यक है। परंतु सम्पूर्ण इच्छा-त्यागका अभ्यास करनेवालेको पहले दूसरेकी निन्दा, दूसरेका अहित, परधन, परस्त्री, दम्भ, दुराचार, वैर, चोरी, संग्रह-परिग्रह और परायी वस्तुमात्रकी इच्छाका त्याग करना चाहिये। जितनी ही बुरी इच्छाओंका नाश होगा, उतनी ही सदिच्छा उत्पन्न होगी; फिर उन सदिच्छाओंको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना होगा।

याद रक्खो—इच्छा जितनी ही कम होगी, उतना ही सुख बढ़ता जायगा। जो वस्तु अप्राप्त है, उसकी इच्छा न करो और जो प्राप्त है, उसका उपयोग अपने सुखके लिये न करके जगत्‌के लिये करो। इससे इच्छाका दमन होगा। जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, यह दृढ़ भावना करो। इससे इच्छाका त्याग सहज ही हो सकेगा।

'शिव'

# विचार-साधना

( लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज )

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

इस जगत्‌में ज्ञान-जैसी पवित्र करनेवाली वस्तु दूसरी नहीं। यहाँ यज्ञ, दान, तप, सेवा, पाठ-पूजा, व्रत-उपवास, जप-ध्यान आदि जितने अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले साधन हैं तथा गङ्गा आदि तीर्थ भी जो पापका नाश करके मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं, इनमें कोई भी ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकते। ये सभी चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञान उत्पन्न करनेमें साधनरूप होनेके कारण पवित्रकारक माने जाते हैं। तप, पाठ-पूजा, तीर्थाटन आदि साधनमात्र हैं, परंतु ज्ञान साध्य है। तप आदिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इतनी ही इनकी चरितार्थता है; क्योंकि अन्तःकरणके निर्मल होनेके बाद ज्ञानके लिये कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता। अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ज्ञान तो अपने-आप प्रकट होता है; क्योंकि वह स्वयंभू है। शरीरमें सर्वत्र व्याप्त आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है और अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर आत्माका प्रतिबिम्ब उसमें ठीक-ठीक पड़ता है। यह आत्मदर्शन ही ज्ञान है।

यह प्रसङ्ग चल रहा था कि इतनेमें वहाँ एक वयोवृद्ध पुरुष आये। प्रसङ्गकी समाप्ति तक बैठे-बैठे सुनते रहे। फिर बोले—'स्वामीजी! आप जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो कोई सहज साध्य वस्तु नहीं दीखती। मैंने तो बहुत अध्ययन किया, बहुत अभ्यास किया, योगवासिष्ठ पढ़ा, विचारसागर बाँचा, पञ्चदशी भी देखी और उपनिषद्‌का भी स्वाध्याय किया, परंतु ज्ञान क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है—यह बात अभी समझमें नहीं आयी। तब फिर ज्ञानसे जन्म-मरणका बन्धन दूर होता है, यह बात कैसे समझमें आ सकती है? इनके पढ़नेसे शब्दज्ञान जरूर हुआ और तर्कसे दूसरोंको अद्वैत ज्ञान भी समझा सकता हूँ, परंतु मेरे मनका समाधान नहीं होता कि वह ज्ञान क्या वस्तु है? और उससे भव-बन्धन कैसे कटता है? आप कृपा करके यह बात समझा दें तो मैं आया करूँ।' उस दिन तो समय हो गया था, इसलिये दूसरे दिन जरा पहले आनेके लिये कहकर मैंने उनको विदा किया, और उसके बाद दूसरे सत्सङ्गी भी धीरे-धीरे जाने लगे।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ पहुँचे और उचित शिष्टाचारके साथ सामने बैठकर बोले—

'आपकी आज्ञाके अनुसार मैं समयपर हाजिर हो गया। अब कृपा करके मुझको ज्ञानका विषय समझाइये।'

मैंने कहा—देखिये, कल मैंने यह बतलाया था कि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता; अन्तःकरण शुद्ध होनेपर वह अपने-आप प्रकट हो जाता है।

अब देखिये! प्रत्येक वस्तु अपने असली स्वरूपमें दीख पड़े—इसीका नाम ज्ञान है और इसके विपरीत जब वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें न आये तो उस स्थितिको अज्ञान कहते हैं। इस अज्ञानको शास्त्र 'अविद्या' नामसे भी पुकारते हैं और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेमें यह बाधक होती है। इस अविद्याका मूल चार प्रकारका है और उनमें फिर कितने ही दूसरे भेद उत्पन्न होते हैं। जो अपना स्वरूप नहीं है उसे अपना स्वरूप मानना। अर्थात् जो 'मैं' नहीं, उसको 'मैं हूँ'—ऐसा कहना; और जो 'मैं' है उसको 'मैं' नहीं,—ऐसा कहना। जो स्वभावतः अपवित्र है उसको पवित्र मानना और जो सदा ही पवित्र है उसको अपवित्र समझना। जो अजन्मा और अविनाशी है उसको जन्म-मरणके विकारसे युक्त मानना और जो निरन्तर क्षयशील है, उसको अजर-अमर बनानेका प्रयत्न करना। जो नित्य सुखरूप, आनन्दरूप है उसको दुखी मानना और जो कभी सुखरूप नहीं हो सकता, उसको सुख पहुँचानेमें जीवनको बर्बाद करना। यह अविद्या है। ज्ञान नित्य है, उसको उत्पन्न करना नहीं पड़ता, तथापि इस अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण ज्ञानका अनुभव नहीं होता। यह बात समझाते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'

अज्ञानके द्वारा ज्ञानके ढँक जानेपर प्राणी मोहको प्राप्त होते हैं। भगवान् कहते हैं कि ज्ञान नित्य है, फिर भी अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण मनुष्य अज्ञानमें भट[illegible] करता है। बादलके [illegible] जानेपर जैसे सूर्य दीखता नहीं [illegible] न दीखनेपर कोई यह नहीं मानता कि सूर्य है ही न[illegible] इसी प्रकार ज्ञानका [illegible]र्शन करनेके लिये ही अवि[illegible]के

आवरण दूर करना है, ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता।

इस आवरणको दूर करनेके लिये योगवासिष्ठने विचारको मुख्य साधन बतलाया है। श्रीशङ्कराचार्य भी इसी साधनको बतलाते हुए कहते हैं—

**'नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।'**

पण्डितजी—हाँ, यह मैं जानता हूँ, यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है।

मैं—अच्छा तो उसका अर्थ भी आप ही कीजिये।

पण्डितजी—ज्ञानं विना विचारेण (वा) अन्यसाधनैः (किञ्चित्) नोत्पद्यते। अर्थात् ज्ञानके विना वस्तुके विचारमात्रसे या दूसरे साधनोंसे कुछ उत्पन्न नहीं होता, यह इसका अर्थ है।

मैं—वाह पण्डितजी वाह! अपने नामको आपने सार्थक कर दिया। पण्डा सूक्ष्मबुद्धिः अस्य अस्ति स पण्डितः—जिसकी सूक्ष्म बुद्धि है वह पण्डित है। पण्डितजी! जरा विचारिये तो, आप स्वयं कहते हैं कि यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है। अनुभूतिका अर्थ है यथार्थ ज्ञान और वह भी परोक्ष नहीं, अपरोक्ष—अर्थात् अनुभवमें आया हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान। अब जहाँ अपरोक्ष ज्ञानका विषय चलता हो वहाँ साग-भाजी उत्पन्न करनेकी तो बात ही नहीं होनी चाहिये। आपने तो ऐसा ही अर्थ कर दिया। यहाँ तो ज्ञानकी बात है और अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता है, यह समझाना है। प्रसङ्गके अनुसार पदका अर्थ करना चाहिये, न कि अपनेको जैसा ठीक लगे वैसा। इस श्लोकार्द्धका यह अन्वय है—

**'विचारेण विना अन्यसाधनैः ज्ञानं न उत्पद्यते।'**

'विचारके बिना अन्य किसी भी साधनसे ज्ञानका उदय नहीं होता।' अविद्याका आवरण हटे, तब ज्ञानका उदय हो, इसलिये आवरणकी निवृत्तिके लिये भी विचार ही मुख्य साधन है।

आपको जो कठिनाई पड़ रही है वह यही है—'स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः'—जहाँ अपने-आप ही पोथी पढ़कर धीर गम्भीर विद्वान् हो जानेकी संतुष्टि होती है, वहाँ उसका ऐसा ही फल निकलता है। इसका परिणाम क्या होता है—यह आपको अज्ञात नहीं है, अतः आपको साधनसम्पन्न होना चाहिये।

विचारकी स्थिरताके लिये कुछ आश्रय चाहिये, बिना उसके वह कहाँ स्थिर रहेगा? अन्तःकरणमें तो विविध भोग-कामनाएँ भरी रहती हैं, तब फिर विचार स्थिर कहाँ रहेगा?

मान लीजिये कि आप यात्रामें निकले हैं। पासमें एक लोटा है, उसमें आपने मट्ठा भर रक्खा है। अब आपको दूध लेना है। यदि आप मट्ठेके साथ दूध लेंगे तो दूध बिगड़ जायगा और इससे मट्ठा भी खाने योग्य नहीं रहेगा। इसलिये या तो आपको दूध पीनेका विचार छोड़ देना चाहिये या मट्ठेका मोह त्यागना चाहिये। दोनों चीजें एक पात्रमें नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार यदि तत्त्वज्ञान रूपी दूध पीना है तो अन्तःकरणमें भरे हुए भोगकामनारूपी मट्ठेको त्याग देनेसे ही छुटकारा है। यदि कामनाओंको न छोड़ सकें तो फिर तत्त्वज्ञानसे हाथ धोना पड़ेगा। दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

इसीलिये हमारे शास्त्रोंने साधन-चतुष्टयको ज्ञान-साधनमें आवश्यक बतलाया है। इसलिये पहले तो विवेकके द्वारा सम्पूर्ण वैराग्ययुक्त बने, वैराग्ययुक्त होकर षट्सम्पत्ति प्राप्त करे; क्योंकि वैराग्य न होगा तो षट्सम्पत्तिका दम्भ भी हो सकता है, अतएव वैराग्य तो प्रमुख साधन है। इसके बाद सच्ची मुमुक्षुता जाग्रत् होगी और तब थोड़े ही साधनसे आपको ज्ञानका साक्षात्कार हुए बिना न रहेगा।

फिर, विचारके लिये बुद्धिको एकाग्र तथा तीक्ष्ण बनाना चाहिये। इसके लिये मल और विक्षेप—इन दो दोषोंको दूर करना चाहिये। इन दोनों दोषोंके दूर होनेपर सूक्ष्मविचारसे आवरण भङ्ग सहज ही हो जायगा।

पहले जो करना चाहिये, वह किया नहीं और बारंबार पढ़नेमेंही लगे रहे, इससे भला ज्ञान स्थिर कहाँसे होगा? वाचनमें आनन्द अवश्य मिलता है, परंतु वह विषयोंके आनन्द-जैसा ही है। विषय जैसे भोग-कालमें ही आनन्द देते दीखते हैं और पूर्व-उत्तरकालमें तो केवल ग्लानिका ही अनुभव होता है, इसी प्रकार अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता है, इसलिये जबतक बाँचते रहें या चर्चा करते रहें, तभीतक ज्ञानका आनन्द मिलता है, पूर्व-उत्तरकालमें ग्लानि ही रहती है, जैसे इस समय आपको दीखता है, वैसे ही।

अब देखिये पण्डितजी! इस भावको श्रीशङ्कराचार्यने इस प्रकार वर्णन किया है—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥

वाणीके द्वारा धाराप्रवाह भाषण, या शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशलता तथा विद्वान् पुरुषकी विद्वत्ता मुक्ति प्रदान नहीं कराती, बल्कि केवल संसारके मायिक भोगोंको प्राप्त कराती है।

अस्तु, विद्वत्ता और ज्ञानके बीच एक और महान् अन्तर है, वह भी समझने योग्य है। विद्वत्ता श्रमसाध्य है, प्रयत्नसे पुरुष उसको प्राप्त कर सकता है। सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप उसकी प्राप्ति हो सकती है; परंतु ज्ञान कृपासाध्य है। जब ईश्वरकी और गुरुकी कृपा होती है, तभी विशुद्ध अन्तःकरणमें स्वयं ज्ञानका स्फुरण होता है। रूपकसे समझावें तो ज्ञान स्वयम्भू है और विद्वत्ताकी प्रतिष्ठा परिश्रम करके करनी पड़ती है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रबल पुरुषार्थकी या बहुत-से ग्रन्थोंके बाँचनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तःकरणको निर्मल करके दृष्टिको सम करनेकी।

अब ज्ञान क्या है, यह समझनेकी चेष्टा करें। मैंने पहले कहा था कि वस्तुका सम्यग्दर्शन होना ही ज्ञान है। इसलिये मैं देह हूँ—और इस कारण देहके सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी—पदार्थ मेरे हैं—यह अज्ञानका स्वरूप है। और 'मैं आत्मा हूँ'—यह ज्ञानका स्वरूप है। 'मैं ब्रह्म हूँ' या 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा केवल बोलनेसे ही आनन्द नहीं मिलता, बल्कि इसका पक्का निश्चय हो जाना चाहिये और वह जीवनमें उतर जाना चाहिये। यह बात श्रीअध्यात्मरामायणमें इस प्रकार समझायी गयी है—

बुद्धिप्राणमनोदेहाहंकृतिभ्यो विलक्षणः ।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम् ॥
येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे ।
विज्ञानं च तदेवैतत् साक्षादनुभवेद् यदा ॥

जिस (ज्ञानके) साधनके द्वारा 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और बुद्धि, प्राण, मन, शरीर और अहङ्कारसे विलक्षण हूँ'—ऐसा निश्चय होता है, वही 'ज्ञान' का स्वरूप है, यह श्रीरामचन्द्रजी स्वमुखसे कहते हैं। इस विलक्षणताका जब साक्षाद् अनुभव होता है, जीवनमें जब यह बात उतर आती है, तब वह 'विज्ञान' कहलाता है।

'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चित हो जानेपर 'मैं सत्-चित्-आनन्दरूप हूँ'—यह निश्चय हो जाता है। यह निश्चय हो जानेके बाद ऐसा अनुभव होने लगता कि 'मैं सत् हूँ'—इसलिये मेरा जन्म-मरण नहीं होता है; 'मैं चित् हूँ'—इसलिये चेतनस्वरूप होनेके कारण ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुझे भटकना नहीं है तथा मैं आनन्दस्वरूप हूँ, अतएव सुखकी प्राप्तिके लिये भोगसाधन इकट्ठा करना भी नहीं है।

इसी प्रसङ्गको भगवान्ने उत्तरगीतामें इस प्रकार समझाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

जो योगी ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त हो गया है और इस प्रकार उसे जो करना था वह सब कर चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञानीको कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। यदि वह समझे कि कुछ कर्तव्य शेष रह गया है तो वह यथार्थ तत्त्वज्ञानी नहीं है। उसका ज्ञान परोक्ष है। अनुभव होनेके बाद तो कर्तव्यभ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है।

इस प्रकार मैं आत्मा हूँ—यह अनुभव होनेके बाद तो बस आनन्द ही-आनन्द, चतुर्दिक् आनन्द ही है! शरीर अपने प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोग भोगता है। यह हमें द्रष्टाभावसे देखते रहना है। इससे हमको कोई सुख दुःख नहीं होता।

आज हमने ज्ञान क्या है अर्थात् ज्ञानका सच्चा स्वरूप क्या है, इस सम्बन्धमें विचार किया और इस निर्णयपर पहुँचे कि 'मैं आत्मा हूँ' इतना ही ज्ञानका स्वरूप है,। ऐसा अनुभव होनेके बाद ज्ञानी सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

कल हमलोग ज्ञानसे जन्म-मरणरूपी बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है इसका विचार करेंगे। इस बीचमें आप इस विषयपर खूब विचार करके देखें और कुछ समझना हो तो फिर पूछ लें।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ गये और हमलोगोंने अपनी बात शुरू की। यह प्रसङ्ग कलकी अपेक्षा भी अधिक ध्यानसे समझने योग्य है, क्योंकि इसमें सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है। अतः ठीक सावधान होकर सुनिये।

अब यह विचार करें कि कौन जन्म लेता है। ...

स्थूल शरीर ही जन्म लेता है, यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। जब शरीर उत्पन्न होता है उस समय उसका कोई भी नाम नहीं होता। नाम तो हम अपने व्यवहारकी सुविधाके लिये पीछेसे रखते हैं। पश्चात् वही शरीर बड़ा होता है तो वह जवान कहलाता है और फिर जीर्ण होने लगता है तब वृद्ध कहलाता है। कालक्रमसे वह शरीर मृत्युको प्राप्त होता है, तब कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया। आप तो शरीरकी इन सारी अवस्थाओंको देखनेवाले हैं, अतएव शरीरसे भिन्न हैं। जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न होता है और घड़ारूप नहीं होता; उसी प्रकार आप भी शरीरको देखनेवाले हैं, इसलिये शरीरसे भिन्न हैं और किसी कालमें आप शरीर नहीं हैं। आप प्रतिदिन व्यवहारमें कहते हैं कि आज मेरा शरीर ठीक नहीं है, आजकल मेरा शरीर दुबला हो गया है, मेरा शरीर अब वृद्ध हो गया आदि। जैसे अपनी कलमसे या अपने कोटसे आप भिन्न हैं, इसी प्रकार अपने शरीरसे भी आपको भिन्न ही होना चाहिये! यह बात शास्त्रमें इस प्रकार समझायी गयी है। अतः इसका मनन करके 'मैं शरीरसे भिन्न हूँ और मैं शरीररूप हो सकता ही नहीं' ऐसा निश्चय कर लें —

**घटद्रष्टा घटाद् भिन्नः सर्वथा न घटो यथा।**
**देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारयेत्॥**

जब आप ऐसा निश्चय कर लें कि (निश्चय होना चाहिये, केवल बोलनेसे काम नहीं चलता) 'मैं शरीर नहीं, किंतु शरीरका द्रष्टा हूँ' तब फिर शरीरके जन्म लेने और मरनेसे आपको क्या लेना-देना है? कुत्ता अपनी पूँछ हिलाये या स्थिर रक्खे, इसमें देखनेवालेको जैसे कोई हानि या लाभ नहीं, उसी प्रकार शरीर जन्मे या मरे, इसमें आप देखनेवालेकी भला क्या हानि या लाभ हो सकता है, जो इसके जन्म-मरणका आप निवारण करें?

फिर शरीरके जन्म-मरणके निवारणका कोई उपाय ही नहीं है, क्योंकि शरीरकी अवधि तो उसके जन्मके पहले ही निश्चित हो गयी होती है। श्रीभागवतकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

**मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।**
**अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्॥**

अतः शरीरके जन्म-मरणकी निवृत्ति होनेवाली नहीं है। शुम्भ-निशुम्भ, रावण-हिरण्यकशिपु आदि तो महाबलवान् थे और मृत्युके निवारणके लिये उन्होंने अथक परिश्रम भी किया था, तथापि उनको भी मृत्युकी शरण लेनी ही पड़ी। इस प्रकार शरीरका जन्म-मरण रोका नहीं जा सकता। फिर आप तो शरीरके जन्म-मरण आदि षट् विकारोंके केवल देखनेवाले हैं, इसलिये आपका अपना तो जन्म-मरण है ही नहीं, अतः उसकी निवृत्तिके लिये आप परिश्रम क्यों करें?

पण्डितजी—अब मैंने समझा कि शरीर ही जन्मता है और शरीर ही मरता है, इसलिये मेरा जन्म-मरण है ही नहीं; परंतु आपने मुझको शरीरका द्रष्टा बतलाया तो फिर शरीरके व्यवहारको देखनेवाला मैं हूँ कौन?

मैं—पण्डितजी! बहुत अच्छा प्रश्न किया? द्रष्टाका स्वभाव शास्त्रोंने जो समझाया है उसे सुनिये—

**दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ।**
**दृग्ब्रह्म दृश्यमायेति सर्ववेदान्तडिण्डिमः॥**

अर्थात् इस जगत्में दो ही पदार्थ हैं और दोनों एक दूसरेसे भिन्न स्वभाववाले हैं। एक द्रष्टा है और दूसरा दृश्य। द्रष्टा यानी ब्रह्म या परमात्मा अथवा आत्मा और दृश्य यानी माया अथवा उसका कार्य यह नामरूपात्मक जगत्। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, भगवान् आदि शब्द भिन्न-भिन्न हैं, परंतु ये सभी एक ही परम तत्त्वके वाचक हैं। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि आप आत्मा हैं, फिर आपका जन्म-मरण कैसे हो सकता है, जो आपको उसकी निवृत्ति करनी पड़े?

पण्डितजी—'अब मैंने समझा कि मैं आत्मा हूँ। तो फिर कर्म कौन करता है? शरीर तो जड है, और आत्मा निष्क्रिय तथा शान्त है। फिर उन कर्मोंका फल भोगनेवाला कौन है? तथा उन कर्मोंको भोगनेके लिये उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेनेवाला कौन है? ये प्रश्न उलझे ही रह जायँगे। अतएव इन प्रश्नोंका जबतक समाधान नहीं होता, तबतक 'मैं आत्मा हूँ'—यह निश्चय कैसे हो सकेगा?'

मैं—'वाह! पण्डितजी वाह! अब आपकी गाड़ी लीकपर आ गयी और ऐसा लगता है कि आपने बातको ठीक समझ लिया है। यह प्रसङ्ग पूर्वके प्रसङ्गकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः ठीक एकाग्र होकर सुनिये।

देखिये, शरीर मरता है तब क्या होता है? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। जबतक प्राण अपान होकर वापस लौटता रहता है तभीतक शरीर जीवित रह सकता है, परंतु जब प्राण वापस नहीं लौटता

और चला ही जाता है, तब शरीर नाशको प्राप्त होता है। प्राणको जाते हुए तो आप आँखोंसे देखते हैं, परंतु दूसरे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ भी उसके साथ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं, वे आँखोंसे नहीं दीखते । प्राण पाँच हैं और उनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि—इस प्रकार कुल सत्रह पदार्थ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सत्रह पदार्थोंके समूहको 'सूक्ष्म-शरीर' या 'लिङ्ग-देह' कहते हैं।

अब इस सूक्ष्म-शरीरका स्वभाव समझिये, जिससे आपके प्रश्नका उत्तर मिल जायगा। यह सूक्ष्म शरीर भी स्वभावसे स्थूल-शरीरके समान जड ही है, परंतु पञ्च महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बने हुए लोहे या काठके समान अत्यन्त जड नहीं है। इनमें भी मन-बुद्धि शुद्ध सात्त्विक अंशोंसे बने हैं। अतएव वे स्थूल शरीरके समान बिल्कुल जड नहीं तथा आत्माके समान स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, परंतु मध्यभाववाले हैं। इस कारण वे आत्माके चैतन्यको अपनेमें ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार मन-बुद्धि आत्माके चैतन्यके द्वारा चेतनयुक्त होकर उस चेतनको प्राणद्वारा इन्द्रियोंमें पहुँचाते हैं और इस तरह सारा सूक्ष्म-शरीर चेतनयुक्त होकर स्थूल-शरीरको चेतनयुक्त कर देता है, क्योंकि सूक्ष्म-शरीर सारे स्थूल-शरीरमें व्याप्त होकर रहता है।

अब आप अपने प्रश्नोंका उत्तर एक-एक करके समझिये। यहाँसे मन-बुद्धि दो शब्दोंके स्थानमें केवल 'मन' शब्दका प्रयोग किया जायगा और उसमें दोनोंको साथ-साथ समझ लीजियेगा। आपका पहला प्रश्न है कि कर्मका कर्ता कौन है ? अब देखिये—स्थूल-शरीर तो कर्मका कर्ता हो नहीं सकता; क्योंकि यदि वह कर्मका कर्ता होता तो प्राण निकल जानेके बाद भी वह कर्म करता हुआ दीख पड़ता, परंतु वैसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये स्थूल-शरीर तो कर्ता है ही नहीं।

तब क्या प्राण कर्ता है ? यदि प्राणको कर्ता मानें तो स्वप्नावस्थामें या सुषुप्तिमें तथा मूर्च्छामें प्राण तो मौजूद रहता है; परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता । इसलिये प्राण भी कर्ता नहीं है।

तब क्या इन्द्रियाँ कर्त्ता हैं ? यदि इन्द्रियोंको कर्त्ता मानें तो स्वप्न तथा सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ तो रहती हैं, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। जाग्रत् अवस्थामें भी इन्द्रियाँ मनके सहयोगके बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं—यह प्रतिदिनके अनुभवकी बात है। आँखें खुली हों, तथापि यदि मन अन्यत्र लगा हो तो आँखें कुछ नहीं देखतीं तथा हम अनेकों बार कहते हैं कि 'मेरा मन अन्यत्र था इससे तुम्हारी बात मैं सुन न सका।' इसलिये इन्द्रियाँ भी कर्ता नहीं हैं।

अब बचे मन और बुद्धि, इसलिये वे ही सच्चे कर्ता हैं। एक बढ़ईके पास जैसे अपना काम करनेके लिये बँसूला, रन्दा, कुल्हाड़ी आदि साधन होते हैं, उसी प्रकार ये दस इन्द्रियाँ मनके साधनमात्र हैं और इसीसे इनका एक अर्थसूचक नाम भी है—करण। करण अर्थात् हथियार, औजार या साधन। जैसे बढ़ई लकड़ी गढ़नेके समय बँसूलेका उपयोग करता है और उसको चिकना करनेके लिये रन्देका प्रयोग करता है, उसी प्रकार मनको देखना होता है तो आँखका, सूँघना होता है तो नाकका और सुनना होता है तो कानका तथा चलना होता है तो पैरका और लेना-देना होता है तो हाथका उपयोग करता है। प्राणद्वारा वह सब इन्द्रियोंमें शक्ति पहुँचाता है, जिससे वे अपना-अपना काम ठीक कर सकें।

अब आपका दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मका फल कौन भोगता है ? बिल्कुल दीपक-जैसी स्पष्ट बात है। व्यवहारमें बलराम माल मँगावें और प्राणलाल जकात दें, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार अम्बालाल दवा पियें और वासुदेवको जुलाब लगे, यह भी नहीं बनता; वैसे ही परमार्थमें भी जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, जैसे जो चोरी करता है वही जेल जाता है।

अब मन-बुद्धि ही कर्मका फल भोगते हैं, इस बातको युक्तिसे सिद्ध करें। जाग्रत् अवस्थामें मन बहिर्मुख होता है, इससे सुख-दुःखादि प्रपञ्च बाहर दीख पड़ते हैं। जब नींद आ जाती है, तब मन अन्तर्मुख हो जाता है और तब शरीरके अंदर ही जाग्रत् प्रपञ्चके-जैसा ही स्वप्नप्रपञ्च दीखता है। जब गाढ़ निद्रा आ जाती है, तब मन अपने उपादानमें लीन हो जाता है, यानी उस समय सुख-दुःखादि कोई भी प्रपञ्च नहीं दीखता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ मन उपस्थित होता है, वहीं प्रपञ्चका अनुभव होता है और उसकी अनुपस्थितिमें वह अनुभव नहीं होता। अन्वय यानी जहाँ मन है, वहाँ सुख-दुःखका भान होता है, जाग्रत्-स्वप्नमें मन उपस्थित रहता है, इसलिये वहाँ क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं; जब सुषुप्ति अवस्थामें मन लीन हो

जाता है, तब वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार सुख-दुःखरूपी कर्मफलका भोगनेवाला मन ही है।

यह बात बहुत ही महत्त्वकी है, इसलिये एक उदाहरणसे समझिये। एक व्यक्तिके हाथपर फोड़ा हो गया। और उसकी वेदनासे वह चिल्लाता है और खूब व्याकुल होता है। यों करते-करते थक जाता है और नींद आ जाती है; तब शान्त हो जाता है। नींद आनेपर वह स्वप्न देखता है कि वह जिस घरकी छतपर है उसमें आग लग गयी है। उससे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ धूप करता है; परंतु कहीं भी नीचे उतरनेका रास्ता नहीं दीखता। अन्तमें एक खिड़की दीख पड़ती है और इस प्रकार जलकर मरनेकी अपेक्षा खिड़कीसे कूदना ठीक समझकर जैसे ही कूदता है, वैसे ही वह जाग जाता है। जागते ही आग तथा वह घर अदृश्य हो जाते हैं और वह अपनेको चारपाईपर सोता हुआ पाता है। अब विचारिये कि जब उस व्यक्तिको नींद आ गयी थी तो क्या फोड़ेकी वेदना मिट गयी थी? नहीं; वह तो ज्यों-की-त्यों थी; परंतु नींदमें वेदना भोगनेवाला मन वहाँ उपस्थित न था और इस कारण उस समय वेदनाका अनुभव नहीं होता था; केवल इतनी ही बात थी। उसी प्रकार स्वप्नगत आगका दुःख और जल जानेका भय भी मन अन्तर्मुख था तभीतक लगता था, मनके जाग्रदवस्थामें आ जानेपर वह दुःख और भय अदृश्य हो गया; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला मन बहिर्मुख हो गया; अतः स्वप्न-प्रपञ्चके साथ उसका सम्बन्ध छूट गया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मका कर्ता जैसे मन-बुद्धि हैं, वैसे ही उस कर्मके फलको भोगनेवाले भी वे ही हैं।

आपका तीसरा प्रश्न यह है कि उच्च-नीच योनियोंमें जन्म कौन धारण करता है? फलभोगकी तरह यह स्पष्ट है कि जिसको सुख-दुःख भोगना होता है, वही उन भोगोंके अनुरूप देह धारण करता है। इसमें तो कुछ सिद्ध करना ही नहीं है। एक शरीरका प्रारब्धभोग पूरा होते ही सूक्ष्म-शरीर उसको छोड़ देता है; क्योंकि फिर उस शरीरमें रहनेका उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर नये प्रारब्धको भोगनेके लिये उस भोगके अनुरूप वह दूसरा स्थूल-शरीर धारण करता है और उस शरीरके द्वारा भोग भोगता है। इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमन तो सूक्ष्म-शरीरका होता है, परंतु आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण भ्रमवश अपनेको उसके साथ आता-जाता मान बैठा है। मन-बुद्धिको कर्म करते तथा उसका फल भोगते देखकर आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और उसके कर्त्ता-भोक्तापनको अपनेमें मानकर स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार स्थूल देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानकर उसका दुःख भोगता है। जब प्राण क्षुधा-तृषासे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं व्याकुलताका अनुभव करता है। आत्माके इस प्रकारके भ्रमको शास्त्रोंने 'देहाध्यास' अथवा 'जीवभाव' कहा है। प्रकृति या मन-बुद्धिके साथ एकात्मताका भ्रम ही जीवभाव है। इसीसे उसमें कर्ता-भर्तापन प्रतीत होता है। इस देहाध्यास या जीवभावको छुड़ाना हो तो आत्माको उसका स्वरूप समझना चाहिये, जिससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाय।

कुछ लोग पूछते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आत्मामें यह जीवभाव आया कहाँसे? और कब आया? यह बात तो सृष्टिके आदिसे है। हम विश्वको अनादि मानते हैं, इसलिये वह कब उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं जानता; क्योंकि जिसने देखा है उसने विश्वको चलते ही देखा है। अतएव आत्मामें जीवभाव भी अनादिकालसे ही चला आ रहा है।

आकाशसे जब पानी गिरता है, तब वह पूर्ण स्वच्छ होता है, परंतु पृथिवीका संग होते ही उसमें दोष आ जाता है। यह दोष पानीमें स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि स्वभावसे तो वह निर्मल था। अतएव यह मलिनता आगन्तुक होनेके कारण, फिर उस पानीको निर्मल किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे तो निर्मल ही है, परंतु विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही उससे विविध शरीरोंका संग होता आ रहा है, इस कारणसे उसमें इन शरीरोंकी मलिनता आ गयी है और इसी कारण उसमें 'जीव' भाव दृढ़ हो गया है। परंतु यह जीवभाव आगन्तुक होनेके कारण स्वरूपगत नहीं है, इसलिये जीवभावकी निवृत्ति हो सकती है और मानव-शरीरकी सार्थकता भी इसीमें है।

इसलिये अब देहाध्यास या जीवभावकी निवृत्ति कैसे करें—यह देखना बाकी रहा। श्रीशङ्कराचार्य इस बातको इस प्रकार समझाते हैं—

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
शास्त्रोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्॥

यह रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है और इसी कारण रस्सी सर्परूप दीखती है। इसी प्रकार आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, इसी कारण शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित करके वह अपनेको जन्म-मरणवाला जीव मान बैठा है। अब यदि कोई आप्त पुरुष तेज प्रकाश लाकर हमें दिखलाये कि 'भाई! तुम जिसे सर्प मानते थे वह तो रस्सी है' तो उसी क्षण सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाय। उसी प्रकार यदि वेद-शास्त्र तथा गुरु-वचनसे आत्माका वह स्वरूप समझमें आ जाय तो उसी क्षण निश्चय हो जाय कि जीव होनेका तो भ्रम था। मैं तो शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलस्वरूप आत्मा हूँ।

अब आत्माको उसका स्वरूप कैसे समझावें, इसकी एक अद्भुत युक्ति श्रीअष्टावक्रजीने बतलायी है, उसे देखिये। वेद कहता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् यह जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप है, यह पहले निश्चय करे। फिर कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेन्नाहं ब्रह्मेति धी कुतः।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत् किमसंतोषकारणम्॥

यह सब ब्रह्मरूप है, ऐसा निश्चय करनेके बाद 'मैं ब्रह्मरूप नहीं हूँ' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'मैं' का समावेश 'यह सब' में हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हुए बिना रहता ही नहीं; और तब आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस बातको संक्षेपमें कहना हो तो न्यायके एक ही सावयव-पदसे इस प्रकार कह सकते हैं—

यह सब ब्रह्मरूप है; मैं इस सबके अन्तर्गत हूँ। इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

विद्वान् पण्डितजी! यहाँतक तो हमने यह समझ लिया कि ज्ञान क्या वस्तु है तथा उससे जन्म-मरणरूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है—यह भी देख लिया; परंतु इतना जान लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। इस विचारको स्थिर करनेके लिये साधन करना चाहिये; जिसकी रूप-रेखा संक्षेपमें बतलायी जा रही है, ध्यान देकर सुनिये।

पहले तो वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्ग योगवासिष्ठसे ठीक-ठीक समझ ले और फिर उसके अनुसार अभ्यासमें लग जाय। मैं समझता हूँ कि (लगे रहे तो) करीब पाँच वर्षोंमें चित्तशुद्धि हो जायगी। आप पाँच वर्ष सुनते ही चमक कैसे उठे? इसमें चमकनेकी बात कोई नहीं है। आप देखिये, व्यवहारमें एक विद्यार्थीको मैट्रिक होना हो तो पूरे ग्यारह वर्ष और बी० ए० होना हो तो पंद्रह वर्ष तन तोड़कर परिश्रम करना पड़ता है और उसका फल क्या होता है?—केवल इतना ही कि भाग्यमें हो तो नौकरी मिल जाय और पेट भरता रहे। जब यहाँ तो आपको अपनी जीविकाके लिये उद्यम करते हुए साधन करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अबतक आपने आजीविकाको मुख्य काम माना था, उसके बदले उसको गौण मानकर अब साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य मानें; फिर इसका फल देखें तो अनन्त और अविनाशी है—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परम आनन्दकी प्राप्ति। इसकी सिद्धिके लिये पाँच वर्ष तो क्या पाँच जीवन भी देने पड़ें तो भी सौदा महँगा नहीं, ऐसा समझ लीजिये।

अब अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस सम्बन्धमें योगदर्शनका एक सूत्र सुनकर उसे ध्यानमें रखिये।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

इसलिये अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक करते रहना चाहिये। फिर अभ्यास सतत तथा धाराप्रवाह करना चाहिये। चार दिन करें और दो दिन न करें—ऐसा करनेसे काम नहीं चल सकता। तथा अभ्यास भाव और प्रेमसे होना चाहिये, सिरसे भार उतारनेके समान नहीं। इस प्रकार अभ्यास हो, तभी वह फलदायी होता है।

अब आप अभ्यासमें प्रगति कर रहे हैं या नहीं—इसे जाननेके लिये यह कुंजी ध्यानमें रखिये—

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नता॥

जाता है, तब वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता । इस प्रकार सुख-दुःखरूपी कर्मफलका भोगनेवाला मन ही है ।

यह बात बहुत ही महत्त्वकी है, इसलिये एक उदाहरण-से समझिये । एक व्यक्तिके हाथपर फोड़ा हो गया । और उसकी वेदनासे वह चिल्लाता है और खूब व्याकुल होता है । यों करते-करते थक जाता है और नींद आ जाती है; तब शान्त हो जाता है । नींद आनेपर वह स्वप्न देखता है कि वह जिस घरकी छतपर है उसमें आग लग गयी है । उससे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ धूप करता है; परंतु कहीं भी नीचे उतरनेका रास्ता नहीं दीखता । अन्तमें एक खिड़की दीख पड़ती है और इस प्रकार जलकर मरनेकी अपेक्षा खिड़कीसे कूदना ठीक समझकर जैसे ही कूदता है, वैसे ही वह जाग जाता है । जागते ही आग तथा वह घर अदृश्य हो जाते हैं और वह अपनेको चारपाईपर सोता हुआ पाता है । अब विचारिये कि जब उस व्यक्तिको नींद आ गयी थी तो क्या फोड़ेकी वेदना मिट गयी थी ? नहीं, वह तो ज्यों-की-त्यों थी; परंतु नींदमें वेदना भोगनेवाला मन वहाँ उपस्थित न था और इस कारण उस समय वेदनाका अनुभव नहीं होता था, केवल इतनी ही बात थी । उसी प्रकार स्वप्नगत आग-का दुःख और जल जानेका भय भी मन अन्तर्मुख था तभीतक लगता था, मनके जाग्रदवस्थामें आ जानेपर वह दुःख और भय अदृश्य हो गया; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला मन बहिर्मुख हो गया; अतः स्वप्न-प्रपञ्चके साथ उसका सम्बन्ध छूट गया । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मका कर्ता जैसे मन-बुद्धि हैं, वैसे ही उस कर्मके फलको भोगनेवाले भी वे ही हैं ।

आपका तीसरा प्रश्न यह है कि उच्च-नीच योनियोंमें जन्म कौन धारण करता है ? फलभोगकी तरह यह स्पष्ट है कि जिसको सुख-दुःख भोगना होता है, वही उन भोगोंके अनुरूप देह धारण करता है । इसमें तो कुछ सिद्ध करना ही नहीं है । एक शरीरका प्रारब्धभोग पूरा होते ही सूक्ष्म-शरीर उसको छोड़ देता है, क्योंकि फिर उस शरीरमें रहनेका उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता । फिर नये प्रारब्धको भोगने-के लिये उस भोगके अनुरूप वह दूसरा स्थूल-शरीर धारण करता है और उस शरीरके द्वारा भोग भोगता है । इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमन तो सूक्ष्म-शरीरका होता है, परंतु आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण भ्रमवश अपनेको उसके साथ आता-जाता मान बैठा है । मन-बुद्धिको कर्म करते तथा उसका फल भोगते देखकर आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और उसके कर्त्ता-भोक्तापनको अपनेमें मानकर स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है । इस प्रकार स्थूल देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानकर उसका दुःख भोगता है । जब प्राण क्षुधा-तृषासे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं व्याकुलताका अनुभव करता है । आत्माके इस प्रकारके भ्रमको शास्त्रोंने 'देहाध्यास' अथवा 'जीवभाव' कहा है । प्रकृति या मन-बुद्धिके साथ एकात्मताका भ्रम ही जीवभाव है । इसीसे उसमें कर्ता-भर्तापन प्रतीत होता है । इस देहाध्यास या जीवभावको छुड़ाना हो तो आत्माको उसका स्वरूप समझना चाहिये, जिससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाय ।

कुछ लोग पूछते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आत्मामें यह जीवभाव आया कहाँसे ? और कब आया ? यह बात तो सृष्टिके आदिसे है । हम विश्वको अनादि मानते हैं, इसलिये वह कब उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं जानता; क्योंकि जिसने देखा है उसने विश्वको चलते ही देखा है । अतएव आत्मामें जीवभाव भी अनादिकालसे ही चला आ रहा है ।

आकाशसे जब पानी गिरता है, तब वह पूर्ण स्वच्छ होता है, परंतु पृथिवीका संग होते ही उसमें दोष आ जाता है । यह दोष पानीमें स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि स्वभावसे तो वह निर्मल था । अतएव यह मलिनता आगन्तुक होनेके कारण, फिर उस पानीको निर्मल किया जा सकता है । इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे तो निर्मल ही है, परंतु विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही उससे विविध शरीरोंका संग होता आ रहा है, इस कारणसे उसमें इन शरीरोंकी मलिनता आ गयी है और इसी कारण उसमें 'जीव' भाव दृढ़ हो गया है । परंतु यह जीवभाव आगन्तुक होनेके कारण स्वरूपगत नहीं है, इसलिये जीवभावकी निवृत्ति हो सकती है और मानव-शरीरकी सार्थकता भी इसीमें है ।

इसलिये अब देहाध्यास या जीवभावकी निवृत्ति कैसे करें—यह देखना बाकी रहा । श्रीशङ्कराचार्य इस बातको इस प्रकार समझाते हैं—

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
शास्त्रोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्॥

यह रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है और इसी कारण रस्सी सर्परूप दीखती है। इसी प्रकार आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है। इसी कारण शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित करके वह अपनेको जन्म-मरणवाला जीव मान बैठा है। अब यदि कोई आप्त पुरुष तेज प्रकाश लाकर हमें दिखलाये कि 'भाई! तुम जिसे सर्प मानते थे वह तो रस्सी है' तो उसी क्षण सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाय। उसी प्रकार यदि वेद-शास्त्र तथा गुरु-वचनसे आत्माका वह स्वरूप समझमें आ जाय तो उसी क्षण निश्चय हो जाय कि जीव होनेका तो भ्रम था। मैं तो शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलस्वरूप आत्मा हूँ।

अब आत्माको उसका स्वरूप कैसे समझावें, इसकी एक अद्भुत युक्ति श्रीअष्टावक्रजीने बतलायी है, उसे देखिये। वेद कहता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् यह जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप है, यह पहले निश्चय करे। फिर कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेन्नाहं ब्रह्मेति धी कुतः।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत् किमसंतोषकारणम्॥

यह सब ब्रह्मरूप है, ऐसा निश्चय करनेके बाद 'मैं ब्रह्मरूप नहीं हूँ' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'मैं' का समावेश 'यह सब' में हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हुए बिना रहता ही नहीं; और तब आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस बातको संक्षेपमें कहना हो तो न्यायके एक ही सावयव-पदसे इस प्रकार कह सकते हैं—

यह सब ब्रह्मरूप है; मैं इस सबके अन्तर्गत हूँ। इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

विद्वान् पण्डितजी! यहाँतक तो हमने यह समझ लिया कि ज्ञान क्या वस्तु है तथा उससे जन्म-मरणरूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है—यह भी देख लिया; परंतु इतना जान लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। इस विचारको स्थिर करनेके लिये साधन करना चाहिये, जिसकी रूप-रेखा संक्षेपमें बतलायी जा रही है, ध्यान देकर सुनिये।

पहले तो वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्ग योगवासिष्ठसे ठीक-ठीक समझ ले और फिर उसके अनुसार अभ्यासमें लग जाय। मैं समझता हूँ कि (लगे रहे तो) करीब पाँच वर्षोंमें चित्तशुद्धि हो जायगी। आप पाँच वर्ष सुनते ही चमक कैसे उठे? इसमें चमकनेकी बात कोई नहीं है। आप देखिये, व्यवहारमें एक विद्यार्थीको मैट्रिक होना हो तो पूरे ग्यारह वर्ष और बी० ए० होना हो तो पंद्रह वर्ष तन तोड़कर परिश्रम करना पड़ता है और उसका फल क्या होता है?—केवल इतना ही कि भाग्यमें हो तो नौकरी मिल जाय और पेट भरता रहे। जब यहाँ तो आपको अपनी जीविकाके लिये उद्यम करते हुए साधन करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अबतक आपने आजीविकाको मुख्य काम माना था, उसके बदले उसको गौण मानकर अब साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य मानें; फिर इसका फल देखें तो अनन्त और अविनाशी है—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परम आनन्दकी प्राप्ति। इसकी सिद्धिके लिये पाँच वर्ष तो क्या पाँच जीवन भी देने पड़ें तो भी सौदा महँगा नहीं, ऐसा समझ लीजिये।

अब अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस सम्बन्धमें योगदर्शनका एक सूत्र सुनकर उसे ध्यानमें रखिये।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

इसलिये अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक करते रहना चाहिये। फिर अभ्यास सतत तथा धाराप्रवाह करना चाहिये। चार दिन करें और दो दिन न करें—ऐसा करनेसे काम नहीं चल सकता। तथा अभ्यास भाव और प्रेमसे होना चाहिये, सिरसे भार उतारनेके समान नहीं। इस प्रकार अभ्यास हो, तभी वह फलदायी होता है।

अब आप अभ्यासमें प्रगति कर रहे हैं या नहीं—इसे जाननेके लिये यह कुंजी ध्यानमें रखिये—

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नता॥

उस भाग्यशाली साधकका अभ्यास सफलतापूर्वक चल रहा है, यह कैसे जानें ? यदि उसकी भोगवासना दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिये कि अभ्यास ठीक हो रहा है।

अब यह जानना है कि सिद्धि प्राप्त होनेतक अभ्यास किस लिये करना चाहिये। बहुधा मनुष्य अधीर हो जाता है और निश्चित समयमें थोड़ा भी फल नहीं दीख पड़ता तो अभ्यास छोड़ देता है। ऐसे प्रसङ्गोंमें अधिकतर अभ्यास करनेमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है और बहुधा दोष निवृत्त होनेमें देर लग जाती है। इसलिये सिद्धिपर्यन्त धीरजके साथ अभ्यास चालू रखना चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठसे कहते हैं, 'महाराज ! समर्थ गुरु और श्रद्धाशील मुमुक्षु साधक होनेपर भी मुझको बोध होनेमें देर क्यों होती है ?' उत्तर देते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

**जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।**
**सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥**

जीवभाव दृढ़ करते-करते आप अनेक जन्म लेते आ रहे हैं, इसलिये अब उस जीवभावको निवृत्त करके उसके स्थानमें आत्मभाव स्थिर करना है, इसमें दीर्घकाल तो लगेगा ही, इसलिये धीरजसे साधन करते जाइये।

लौकिक दृष्टान्त देकर अच्छी तरह समझाते हुए श्रीपञ्चदशीकार कहते हैं—

**कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।**
**तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥**

खेतमें बीज बोनेपर कहीं वह तुरंत ही जम नहीं जाता; परंतु उसके अंकुरित होनेमें देर लगती है। खैरके बीजके समान कठिन बीज हो तो अधिक समय लगता है और अनाजके समान नरम बीज हो तो कम समय लगता है। इसी प्रकार माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय चाहिये। हाथी-जैसे बड़े प्राणीके लिये अधिक और बिल्ली या चूहे-जैसे छोटे प्राणीके लिये कम समय चाहिये। वैसे ही आत्मभावना भी धीरे-धीरे कालक्रमसे परिपक्व होती है। उसमें अधीर होनेसे काम नहीं चलता। इस प्रकार सतत अभ्यास कीजिये तो मुझे विश्वास है कि इसी जन्ममें आप कृतकृत्य हो जायँगे।

सत्संग पूरा हुआ, पण्डितजी महाराज परम संतोष तथा कृतज्ञता प्रकट करते हुए चले गये।

ॐ नमो नारायणाय।

## राम-नाम

गर्मीके दिन थे और मैं रात्रिमें शयनार्थ अपने मकानकी छतपर लेटा हुआ था। ग्यारह बजेका समय होगा कि एकायक पासके पड़ोसी जुलाहेके नवयुवक लड़केकी दाढ़में या आँखोंमें ·········· ठीकसे याद नहीं रहा—घोर दर्द हो गया। बेचारा बड़े जोरसे 'हाय ! हाय !!' करने लगा। उसकी चीख सुनकर मैं सिहर उठा ! लगभग आधा घंटातक यही हाल रहा !

पता नहीं, उसके मनमें क्या आया कि उसने 'हाय ! हाय !!' का क्रम तोड़कर—'हे भगवान् !—हे भगवान् !!' की रट लगानी शुरू कर दी और वह भी बड़े जोरोंसे एवं बड़ी लगनसे ! ऐसा भी लगभग आधा घंटातक ही करता रहा।

परिणाम यह हुआ कि उसकी दुर्दमनीय पीड़ा काफूर हो गयी और वह बड़े उल्लाससे एवं हर्षातिरेकके साथ अपने पितासे बोला—'चाचा ! दर्द हट गया है ! मैंने भगवान्‌का नाम लिया था उसीने हटा दिया है।'

उन दिनों राष्ट्र पिताके इस वाक्यमें कि 'राम-नाम' सकल रोगोंकी अचूक ओषधि है—मेरी श्रद्धाका प्रादुर्भाव हुआ होगा। मैंने आजमाइश भी की थी और यह प्रयोग सफल पाया था। उक्त घटनासे मेरी यह आस्था और भी दृढ़ हो गयी कि सचमुचमें राम-नाम सकल रोगोंकी अमोघ ओषधि है।

उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त जुलाहेका लड़का अनपढ़ है और पता नहीं क्यों उसने अपने रोगमें भगवन्नाम-जपका प्रयोग किया—!

कुछ भी हो, असहनीय वेदनामें प्रभुको स्मरण करनेपर आपत्तिसे अवश्य ही मुक्ति मिलती है। इसीलिये तो कहा गया है—'When pains are highest, God is nighest' अर्थात् दुःखकी चरम अनुभूति होनेपर ही श्रीपरमेश्वरका निकटतम सान्निध्य प्राप्त होता है।

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

# परमार्थ-पत्रावली

( श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र )

( १ )

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

आपने ईश्वरका अस्तित्व नहीं होनेका जो यह कारण बताया कि आजतक कोई उसतक पहुँच नहीं पाया, सो यह आप किस आधारपर लिख रहे हैं । उनतक पहुँचनेके लिये वास्तविक खोजमें लग जानेवालोंमेंसे अधिकांश लोग वहाँ पहुँचे हैं और आज भी पहुँच सकते हैं । अतः आपका यह तर्क सर्वथा निराधार है ।

आपने लिखा कि लाखों-करोड़ों वर्षोंतक तपस्या करके भी पार नहीं पाया जा सकता । पर यदि कोई गलत रास्तेसे प्रयास करे या किसी दूसरी वस्तुको पानेके लिये प्रयास करे और वह ईश्वरको न पा सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वरं गीतामें तो भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'साधक पराभक्तिके द्वारा मैं जो हूँ और जैसा हूँ तत्त्वसे जान लेता है और फिर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है ( गीता अ० १८ श्लोक ५५ )।' तथा वे पहले भी कह आये हैं कि 'पहले ज्ञानतपसे पवित्र हुए बहुत-से साधक मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं ( गीता ४ । १० )।' 'इस ज्ञानको जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं इत्यादि ( गीता १४ । १-२ )।' अतः आपका यह कहना कि उसे कोई नहीं जान सका, निराधार सिद्ध होता है ।

उसका आदि, अन्त और मध्य न जाननेकी जो बात कही गयी है, वह तो उस तत्त्वको असीम और अनन्त बतानेके लिये है । वेदोंने जो 'नेति नेति' कहा है, उसका भी यही भाव है कि वह जितना बताया गया उतना ही नहीं है, उससे अधिक भी है । अतः इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता ।

आप गम्भीरतासे विचार करें । वैज्ञानिकलोग जो प्रकृतिका अध्ययन करके नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, क्या वे कह सकते हैं कि हमने प्रकृतिको पूर्णतया जान लिया है, अब कोई आविष्कार शेष नहीं रहा है ? यदि ऐसा नहीं कह सकते तो क्या इतनेसे यह मान लेना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं है ?

बात तो यह है कि किसी भी असीम तत्त्वकी सीमा कोई निर्धारित नहीं कर सकता । यदि कोई कहे कि मैं उसे पूर्णतया जान गया तो उस सीमित व्यक्तिका ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा ? और इस कसौटीपर असीम तत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकार करना भी कहाँतक युक्तिसङ्गत है, इसपर भी आप विचार करें ।

आपने लिखा कि जो है भी और नहीं भी है— ऐसी ईश्वरकी व्याख्या है, सो ऐसी व्याख्या कहाँ है ? यह कौन कह सकता है कि अमुक वस्तु नहीं है; क्योंकि यह निश्चय करनेवाला भी तो कोई सर्वज्ञ ही होना चाहिये । 'अमुक वस्तु है या नहीं' ऐसा संदेह तो कोई भी कर सकता है पर 'नहीं है' यह कहनेका किसीका भी अधिकार नहीं है। फिर ईश्वरके बारेमें यह कहना कि 'वह नहीं है'— यह तो सर्वथा अनुचित है ।

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, साकार और निराकार भी है—यह कहना ठीक है और सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

शास्त्रोंमें जो यह कहा गया है कि ईश्वर सत् भी है और असत् भी है—वह 'सत्' शब्द कार्यका वाचक है और 'असत्' शब्द कारणका वाचक है । 'असत्' शब्द अभावका वाचक नहीं है । यह आपके

ध्यानमें रहना चाहिये । तभी शास्त्रके वचनोंका भाव समझमें आ सकता है ।

आपने लिखा कि ईश्वर कुछ नहीं है, केवल कल्पना है; क्योंकि 'सब कुछ' का अर्थ 'कुछ नहीं' अर्थात् 'शून्य'—होता है, सो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ईश्वरको कल्पनासे अतीत बताया गया है। गीता अध्याय ८ श्लोक १० में उसे 'अचिन्त्य रूप' कहा गया है ।

आगे चलकर आपने लिखा कि 'क्या जो चैतन्य रूप दीखता है यही ईश्वर है ?' इसका उत्तर यह है कि जिस हलचल और शक्तिको लक्ष्य करके आपने चैतन्यकी व्याख्या की है इसका नाम चेतन नहीं है । शब्द तो आकाश-तत्त्वका गुण है, शक्ति बिजलीका गुण है, वेग वायुका गुण है । ये सभी जड तत्त्व हैं । इनमें कोई भी चैतन्य नहीं है । चैतन्य तो वह तत्त्व है, जो इन सबको जानता है और इनका निर्माण भी करता है । जो वस्तु निर्माण की जाती है, किसीके द्वारा संचालित होती है, वह चैतन्य कैसे हो सकती है ? यदि चेतनकी व्याख्या आप ठीक-ठीक समझ पाते तो सम्भव है आपको ईश्वरकी सत्ताका कुछ अनुभव होता । मनुष्यको ईश्वरका पता लगानेके पहले यह सोचना चाहिये कि मैं जो 'ईश्वरकी सत्ता है या नहीं' इसका निश्चय करना चाहता हूँ, वह मैं कौन हूँ । जिसमें जाननेकी अभिलाषा है और जो अपने-आपको तथा अपनेसे भिन्नको भी जानता है, प्रकाशित करता है, वही चेतन हो सकता है । यह समझमें आ जानेपर आगेकी खोज आरम्भ होगी ।

आपने कल-कारखानोंकी बात लिखी, कोयले और पानीके मिश्रणकी, उसकी शक्तिकी बातोंपर प्रकाश डाला, फिर बिजलीकी महिमाका वर्णन किया सो तो ठीक है, पर उनका आविष्कार करनेवालोंकी महिमाकी ओर आपका ध्यान नहीं गया । आप सोचिये, क्या वे कल-कारखाने बिना कर्ताके सहयोगके कुछ भी चमत्कार दिखा सकते हैं ? यदि नहीं तो विशेषता उनको बनाने और चलानेवालेकी ही सिद्ध हुई ।

आपने मानव-शरीरको पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ बताया, यह तो ठीक है । शरीर तो सभी प्राणियोंके पाँच तत्त्वोंके संघातसे ही बने हैं । पर पाँच तत्त्वोंका संघात तो केवलमात्र यह दीखनेवाला स्थूल शरीर ही है । मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन तत्त्व इसके अंदर और हैं तथा इन सबको जानने और प्रकाशित करनेवाला एक इनका अधिष्ठाता संचालक भी है । उसकी ओर भी आपका ध्यान आकर्षित होना चाहिये । उसके बिना इन सब तत्त्वोंके सभी चमत्कार बेकाम हो जाते हैं । वह कौन है ?—इसपर विचार कीजिये ।

आगे चलकर आपने सूर्य, चन्द्र, तारा आदिके विषयमें विज्ञानके आधारपर लिखा कि ये सब अपने-आप हो रहे हैं, परंतु आपने गहराईसे विचार नहीं किया । करते तो आप यह भी समझ सकते कि कोई भी जड पदार्थ बिना किसी संचालकके बहुत कालतक नियमित रूपसे नहीं चल सकता । जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार है—जैसे अणु बम, रेडियो, बिजली और स्टीमसे होनेवाले काम, हवाई जहाज आदि; क्या कोई भी यन्त्र अपने-आप बन जाता है या उसका संचालन अपने-आप हो जाता है ? यदि नहीं, तो फिर ये सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, तारा आदि यन्त्र अपने-आप कैसे बन गये और अपने-आप नियमित रूपमें कैसे संचालित होने लगे ?

आपने लिखा कि 'जहाँ बुद्धि काम न दे, वहाँ ईश्वरको मान ले' सो ऐसी बात नहीं है । बुद्धि तो मनुष्यकी प्रकृतितक भी नहीं पहुँच पाती पर उस जड प्रकृतिको शास्त्रकारोंने ईश्वर नहीं मान लिया । उस प्रकृतिके आंशिक संचालक और प्रकाशकको भी ईश्वर

नहीं माना; हाँ, ईश्वरका अंश तो माना है। अतः उसकी सत्तासे ही ईश्वरकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

अज्ञानका नाम ईश्वर नहीं है। जो ज्ञान और अज्ञान—दोनोंको जाननेवाला है, उसका नाम ईश्वर है।

मायाकी व्याख्या तो श्रीतुलसीदासजीने इस प्रकार की है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

अतः जाननेमें न आनेवाली वस्तुका नाम माया नहीं बताया गया है।

आपने धर्मग्रन्थ और मत-मतान्तरोंपर आक्षेप करते हुए लिखा कि 'किसकी मान्यता ठीक है, कोई कुछ कहते हैं और कोई कुछ कहते हैं। यदि ईश्वर होता तो सबका एक ही मत होता।' यहाँ आपको गम्भीरतासे शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। यह तो हरेक विचारशील व्यक्तिको मानना ही पड़ेगा कि जिस तत्त्वको कोई जानना चाहता है, उसके विषयमें पहले कुछ-न-कुछ मानना पड़ता है और वह मान्यता वास्तविक सत्य न होनेपर भी सत्यका ज्ञान करानेमें हेतु होनेके कारण सत्य है। जैसे—अंग्रेजी लिपिमें 'K' इस आकारको 'क' माना; उसके आगे एक 'H' चिह्न और लगाकर उसे 'ख' मान लिया, इसी प्रकार सब वर्ण और संकेतोंके विषयमें समझ लें। उर्दूमें दूसरे ही संकेत हैं, बँगलामें दूसरे हैं और तामिल, तेलगू आदि दक्षिणी लिपियोंमें दूसरे हैं तथा उन-उन भाषाभाषियोंके लिये अपनी-अपनी भाषाके माने हुए चिह्न ही सत्य हैं; क्योंकि वे किसी भी जाननेमें आनेवाली वस्तुका ज्ञान करानेमें पूरे सहायक हैं। यदि ऐसा न माना जाता तो आज जगत्में कोई विद्वान् हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार उस परम सत्य तत्त्वको समझानेके लिये हरेक मतावलम्बीने जो अपने-अपने संकेत बनाये हैं, वे साधकोंके लिये पथ-प्रदर्शक होनेके नाते सभी सत्य हैं। यद्यपि जितने मत हैं, सभी मान्यता हैं, पर बिना मान्यताके हमारा कोई भी छोटे-से-छोटा काम भी नहीं चलता; फिर ईश्वरके लिये की जानेवाली मान्यता हमें क्यों अखरती है। क्या छोटी-से-छोटी वस्तुका ज्ञान करानेके लिये वैज्ञानिकोंको विभिन्न संकेतोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता? क्या इस कारणको लेकर आविष्कृत वस्तुकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती? ऐसा तो कोई भी नहीं मान सकता।

बीजगणितमें तो सारा काम मान्यताके ही आधारपर चलता है तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंमें भी मान्यता और बीजगणितका ही आश्रय लेना पड़ता है। यह सभी वैज्ञानिकोंका अनुभव है। परम सत्य ईश्वरतत्त्वको जानना कोई साधारण विज्ञान नहीं है। अतः उसके लिये तरह-तरहकी मान्यता भी अनिवार्य है; क्योंकि साधकोंकी रुचि, योग्यता, बुद्धि और विश्वास भिन्न-भिन्न होनेसे भेद होना अनिवार्य है। अतः मत-मतान्तरोंकी अनेकतासे एक ईश्वरका होना असिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आपका यह लिखना कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं है, किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं है, केवल प्रमादमात्र है।

'ईश्वरको न माननेसे मनुष्य वाममार्गी अत्याचारी व्यभिचारी हो जायगा, समाजभ्रष्ट हो जायगा, इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये,' ऐसी बात नहीं है। जो वस्तु नहीं है उसे मानना तो स्वयं अत्याचार है, उससे अत्याचार आदिका निवारण कैसे होगा। अतः उपर्युक्त दुर्गुणोंकी नाशक भी सच्ची मान्यता ही हो सकती है और वही बात शास्त्रकारोंने बतायी है, मिथ्या कल्पना नहीं है।

इसी प्रकार धर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि कोई भी बात कल्पित या मिथ्या नहीं है। झूठसे कभी किसीका कोई लाभ नहीं होता, यही धर्मका निर्णय है। झूठ तो अधर्म है ही, उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है।

हमारा धर्मशास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र ढकोसला नहीं है, वास्तविक हानि-लाभको ही समझानेवाला है; अतः वही एकमात्र सुधारका रास्ता है। आज उसके नामपर दुनियामें दम्भ बढ़ गया है, इसी कारण अनुभवसे रहित नवशिक्षित पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावमें आये हुए पुरुषोंको धर्म और ईश्वरपर आक्षेप करनेका मौका मिल गया है।

आगे चलकर आपने पूजा-पाठपर आक्षेप किया है, वह भी विचारकी कमीका ही द्योतक है। आपको गहराईसे विचार करना चाहिये कि क्या ऐसा कोई भी मजदूर या परिश्रम करनेवाला मनुष्य है जिसको चौबीसों घंटे फुरसत ही नहीं है, उसका सबका सब समय शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुओंके उपार्जनमें ही लग जाता है? विचार करनेपर ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा। उसे भगवान्‌का भजन-स्मरण और सत्सङ्ग-स्वाध्यायके लिये समय चाहे न मिले पर खेलने, मन बहलाने, सिनेमा देखने और अन्यान्य व्यर्थ कामोंके लिये तो समय मिलता ही है। इसके सिवा हमारे धर्मशास्त्रोंमें तो यह भी बताया गया है कि जिस मनुष्यका जो कर्तव्य-कर्म है उसीको ठीक-ठीक उचित रीतिसे करके उसके द्वारा ही वह ईश्वरकी पूजा कर सकता है। अतः इसमें न तो किसी प्रकारका खर्च है न किसी वस्तुकी जरूरत है, न कोई समयकी ही आवश्यकता है। ऐसी पूजा तो हरेक मनुष्य बिना किसी कठिनाईके कर सकता है। आप गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १८ श्लोक ४५, ४६ और उसकी टीकाको देखिये।

अतः आपका यह आक्षेप कि 'जो धनी-मानी, सेठ-साहूकार निठल्ले बैठे रहते हैं, उन्हें पूजा-पाठसे मन वशमें करना चाहिये'—सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि कोई भी मनुष्य आपको ऐसा नहीं मिलेगा जिसको मनकी बात पूरी करते-करते शान्ति मिल गयी हो। शान्ति तो मनको भोगकामनासे हटाकर भगवान्‌में लगानेसे ही मिलेगी, जो कि सहजमें ही किया जा सकता है।

आप गीताका नित्य पाठ करते हैं, कल्याणका मनन करते हैं, गायत्रीजप करते हैं, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। गीताके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करें।

( २ )

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

( १ ) यह तो आपको मान ही लेना चाहिये कि भगवान् एक ही है। उसके चाहे जितने स्वरूप हों, वह चाहे जिस वेषमें रहे पर है एक और वही साधकका इष्ट होना चाहिये। इस परिस्थितिमें यदि आप अपने इष्टको विष्णुरूपमें बुलाना चाहते हैं और वह श्रीकृष्णरूपमें आपके सामने प्रकट होता है, तो समझना चाहिये कि भगवान् मेरे मनकी बात पूरी न करके अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं, यह कितनी कृपा है। इसलिये उसका तो अधिक आदर करना चाहिये। मेरा हित किसमें है इसका मुझे क्या पता? प्रभु सब कुछ जानते हैं उनसे कुछ छिपा नहीं है। अतः वे जो कुछ करते हैं वही ठीक है। ऐसा मानकर आपको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल हो जाना चाहिये और जो अपने-आप सामने आये, उन श्रीकृष्णकी उस स्वरूप-माधुरीका पान करते रहना चाहिये। उस रूपमें भी तो आपके इष्ट ही आते हैं, फिर आपके इष्टके ध्यानमें बाधा कैसी?

( २ ) प्रकृति स्वयं गतिशील है, यह तो माना जा सकता है; परंतु वह न तो अपनेको जानती है और न अपनेसे भिन्नको ही जान सकती है। फिर वह कौन है जो उस प्रकृतिका नियमानुसार संचालन करता है, जीवोंको उनके कर्मानुसार फलभोग कराता है और

कर्मबन्धनसे मुक्त भी करता है ? बिना चेतनके सहयोग-के प्रकृति कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकती जो नियमानुसार चलता रहे और उसमें कोई व्यवधान न पड़े। अतः यह सिद्ध होता है कि उसका एक संचालक सर्वशक्तिमान् अवश्य है। वही ईश्वर है।

आपने पूछा कि यदि प्रत्येक वस्तुको कोई बनानेवाला है तो भगवान्को बनानेवाला कौन है। इसका यह उत्तर है कि जगत्के बनानेवालेका बनानेवाला कोई नहीं होता, वह बनानेवाला तो स्वतःसिद्ध होता है; क्योंकि वह जड वस्तु नहीं है, स्वयंप्रकाश सर्वशक्तिमान् है, इसीलिये वह भगवान् है।

जिस तत्त्वको हम जानना चाहते हैं उसके जानकारोंकी बातपर विश्वास करके पहले मानते हैं तभी उसे जानते हैं, उसी प्रकार ईश्वरतत्त्वको समझनेके लिये भी पहले उसे जाननेवालोंपर और उसे जाननेकी प्रक्रियापर विश्वास करना उचित है। बिना विश्वासके मनुष्यका छोटे-से-छोटा कोई भी काम नहीं चलता, इसलिये भी विश्वास करना ही जाननेका उपाय है; यह बात सिद्ध होती है।

भगवान् है—यह विश्वास मनुष्यको इसलिये भी करना चाहिये कि उसको स्वयं अपने होनेका प्रत्यक्ष बोध है। कोई भी प्राणी यह नहीं समझता कि मैं नहीं हूँ। अतः उसे विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ। विचार करनेपर पता लगेगा कि शरीर तो मैं नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो बदलता रहता है और मैं नहीं बदलता; मेरा शरीर आजके दस वर्ष पहले जो था, वह अब नहीं रहा पर मैं वही हूँ जो उस समय था; क्योंकि उस समय और उससे पहलेकी घटनाएँ मुझे मालूम हैं।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं शरीर नहीं तो क्या मैं मन और बुद्धि हूँ। विचार करनेपर पता चलेगा कि मैं मन-बुद्धि भी नहीं हो सकता; क्योंकि उनको मैं जानता हूँ और जाननेमें आनेवाली वस्तुसे जाननेवाला सदैव भिन्न हुआ करता है।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ और किसके आश्रित हूँ, मेरा आधार क्या है। विचार करनेपर पता लगेगा कि जो मेरे ज्ञानका विषय है, जिसको मैं जान सकता हूँ वह न तो मेरा आधार हो सकता है और न वह मैं ही हो सकता हूँ; क्योंकि जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं एवं मैं सदा एकरस और अविनाशी हूँ। अतः मेरा आधार, संचालक और प्रेरक भी कोई चेतन अविनाशी ही हो सकता है और वही भगवान् है। इस प्रकार अपनी सत्ताको तथा सीमित सामर्थ्य और सीमित ज्ञानको देखकर किसी असीम ज्ञान-बल-वीर्ययुक्त नित्य अविनाशी चेतन शक्तिका होना स्वतः समझमें आना चाहिये।

( ३ )

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। कार्ड आपका मिला। समाचार मालूम हुए। आपने लिखा कि मैं जीवात्मा मायामें लिपटनेसे अपने स्वरूपको भूल गया हूँ, सो यह तो आपकी सुनी हुई बात है। यदि इस बातको आप समझ लेते या मान लेते तो तत्काल ही मायाके बन्धन-से छूट जाते।

गृहस्थका निर्वाह तो आपके न रहनेपर भी होता ही रहेगा। आपकी जो यह मान्यता है कि मैं गृहस्थ-का निर्वाह करता हूँ, यह तो केवल अभिमानमात्र है।

जीव चेतन है, सर्वव्यापी भगवान्का अंश है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है। पर जीवको भगवान्से अलग करनेवाला केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, इसके सिवा सूक्ष्म और कारण शरीर भी हैं। अतः जबतक तीनों शरीरोंसे जीवका सम्बन्ध नहीं छूटता, तबतक वह जन्म-मृत्युसे नहीं छूटता। उसका एक स्थूल शरीरको

छोड़कर दूसरे स्थूल शरीरमें जाना सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर होता है। इसका खुलासा गीतातत्त्वविवेचनी टीका अ० १५ श्लोक ७, ८, ९ में देखना चाहिये।

माता-पिता न हों तो सबके माता-पिता परमेश्वर तो हैं ही, उनको प्रणाम करना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण और अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये एवं सबके हृदयमें स्थित भगवान्‌को प्रणाम करना चाहिये।

जबतक आप झूठ बोलते हैं, तबतक एक बात बोलनेसे ग्राहक न पटे इसमें क्या आश्चर्य है; क्योंकि उनको कैसे खातिर हो कि आप सच बोलते हैं। यदि भय और लालचको छोड़कर आप सत्यके पालनपर दृढ़ हो जायँ तो फिर ग्राहक आपको ढूँढ़ते फिर सकते हैं।

# दिव्य चरणकमल-रज

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

प्रभुके वरद चरणकमलकी रजकणिकाएँ अति दिव्य हैं। उनके संस्पर्शमात्रसे ही गौतम-पत्नीका पाषाण-देह दिव्य लोकोत्तर विग्रहमें परिवर्तित हो गया; वह अपनी पूर्वाकृतिको प्राप्त हो गयीं—

**दुःखे सुखे च रज एव बभूव हेतु-**
**स्तादृग्विधे महति गौतमधर्मपत्न्याः।**
**यस्माद् गुणेन रजसा विकृतिं गता सा**
**रामस्य पादरजसा प्रकृतिं प्रपेदे ॥**
( रामायणचम्पू० बाल० १४९ )

**शिला कम्पं धत्ते शिव शिव वियुङ्क्ते कठिनता-**
**महो नारीच्छायामयति वनितारूपमयते ॥**
**वदत्येवं रामे विकसितमुखी वल्कलमुरः-**
**स्थले धृत्वा बद्ध्वा कचभरमुदस्थादृषिवधूः॥**

—भगवत्पादाब्जरजसे संस्पृष्ट होते ही शिला काँपने लगी और प्रभु बोल उठे—'शिव, शिव यह शिला क्यों हिलने लगी और अब तो इसका काठिन्य भी दूर हो गया, अहो! इसमेंसे तो स्त्रीकी छाया-सी दीखने लगी, अरे अरे! यह तो स्त्री बन गयी'। भगवान्‌के यों कहते-कहते ही बालों तथा वल्कलोंको सँभालती हुई विकसित-मुखी, प्रसन्नानना ऋषिवधू अहल्या उठ खड़ी हुई और फिर चरणरज पानेके लिये चरणोंमें गिर पड़ी—

**प्रभु पद-पदुम परागा परी**
**ऋषि तिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी ॥**

कहते हैं जब सखियोंने विवाहके अवसरपर सीताजीसे कहा—'सीते! तुम प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करो', तब इस भयसे कि इनकी दिव्य पादाब्जरजकणिकासे मेरे भालरत्न, चूडामणि आदि भी स्त्री हो जायँगी, उन्होंने वैसा न किया—

**शिक्षितापि सखिभिर्ननु सीता**
**रामचन्द्रचरणौ न ननाम।**
**किं भविष्यति मुनीशवधू वद्**
**भालरत्नमिह तद्रजसेति ॥**

**सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता। करति न चरन परस अति भीता॥**
**गौतम तियगति सुरति करि नहिं परसति पद पानि।**
**मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥**

इसी प्रकार केवट भी गङ्गापार होनेके समय उनसे कहने लगा, 'महाराज! मेरे परिवारवालोंका एकमात्र यह नौका ही जीवनाधार है। वह काष्ठकी बनी है और काष्ठ कोई शिलासे अधिक कठोर नहीं होता। तुम्हारे दिव्य पदरजसे संस्पृष्ट होकर यह तरणि भी अवश्य ही किसी 'मुनिकी घरनी' बन जायगी और मैं सपरिवार मर जाऊँगा, तुम्हें क्या? तुम तो नाव उड़ाकर अपनी राह पकड़ोगे—

**.....नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।**
**मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते**
**पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥**
( अध्यात्म० बाल० ६। ३, आनंदरामा० सारकां० १।१४, महानाटक० ३। ४)

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा
पश्चात् परं तीरमहं नयामि ।
नो चेत्तरी सद्युवती मलेन
स्याच्चेद् विभो विद्धि कुटुम्बहानिः ॥
(अध्यात्म० बाल० ६ । ४)

'उपलतनुरहल्या गौतमस्यैव शापा-
दियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात् ।
चरणनलिनसंगानुग्रहं ते भजन्तु
भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री ॥
(हनु० ३ । २०, महा० ३ । ४६)

चरनकमलरज कहुँ सब कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ॥
तरनिउ मुनिघरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥
'रावरे दोष न पायनको, पगधूरिको भूरि प्रभाउ महा है ।
पाहन तें बन-बाहन, काठको कोमल है, जल खाइ रहा है ॥'
(कवितावली)

चलते-चलते जब प्रभु विन्ध्यारण्यमें पहुँचते हैं, तब बहुत-से उदासी तपस्वी व्रतधारी मुनिजन व्यंग करते हुए प्रभुसे कहते हैं, 'महाराज ! आपने बड़ी कृपा की । हमलोग गौतम-पत्नीकी कथा सुन चुके हैं । चलिये अब हमलोगोंका दुःख दूर हुआ । यहाँ जंगलोंमें शिलाओंका कोई अभाव तो है नहीं । बस आपके सुन्दर पदकमलके संस्पर्श-से अब ये सारी शिलाएँ चन्द्रमुखी ललनाएँ बन जायँगी और एक-एक ऋषिको न जाने कितनी-कितनी स्त्रियाँ मिल जायँगी, कोई गणना है ? आखिर ये सब जायँगी भी कहाँ ?

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहा-
मलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम् ।
त्वयि चरति विशीर्णविन्ध्यग्रावाद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः ॥
(हनुमन्नाटक ३ । १९ प्रसन्नराघवनाटक, महाना० ३ । ४४)

बिंधिके बासी उदासी तपी व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतमतीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखीं परसें पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायकजू ! करुना करि काननको पगु धारे ॥
(कविता० अयोध्या २८)

चित्रकूटमें कई स्थलोंपर भगवान् राघवेन्द्र तथा पराम्बा जगज्जननी जानकीके पदचिह्न शिलातलोंपर उग आये हैं, जो अद्यावधि ज्यों-के-त्यों हैं । यह उनकी दिव्यताका साक्षात् साक्षी है । भरतमिलाप नामक स्थलपर तो हजारों पदचिह्न प्रकट हो गये हैं । जानकीकुण्डस्थित भगवती सीताके लाल कमल-जैसे दिव्य पदचिह्नको देखकर हृदय द्रवित हो उठता है और 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' यह भवभूतिकी उक्ति याद पड़ जाती है । तुलसीदासजीने तो—

'द्रवहिं देखि सुनि कुलिस पखाना ।'
परसि चरनरज अचर सुखारी । भए परम पद के अधिकारी ॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥
परसि रामपद पदुम परागा । मानति भूमि भूरि निज भागा ॥

—आदिका कई बार वर्णन किया है । उन्होंने चित्रकूटके चिह्नोंको लक्ष्यकर अपनी विनयपत्रिकामें स्पष्ट ही लिखा है—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चल ।
भूमि बिलोकु रामपद अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थल ।

मानसमें भी भरतजीसे कहलाते हैं—

प्रभुपद अंकित अवनि बिसेषी । आयसु होइ तो आवौं देखी ॥

और तो और, कालिदासने भी मेघदूतमें इन चिह्नों-को सादर स्मरण किया है—

'वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।'
(पूर्वमेघ० १२)

भागवतकारने बड़े सरस एवं हृदयग्राही शब्दोंमें प्रभुके आत्मज्योतिमें प्रवेशकी कथाका उल्लेख किया है और कहा है कि दण्डकवनके कण्टकोंसे विद्ध भगवान् रामके वे पदकमल स्मरण करनेवालोंके हृदयसे नहीं निकले ।

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥
(९ । ११ । १९)

'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे ।
पद कंज द्वन्द मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ॥

जिस सौभाग्यशालीने एक बार भी उनका दर्शन, स्पर्श, अनुगमन या सेवन किया, वह योगियोंके लोकोंको प्राप्त हुआ।

**स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।**
**कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥**
(९।११।२२)

उनकी नखमणिचन्द्रिका ध्यान करनेवालेके हृदयके महान् अन्धकारका संहार करती हैं, त्रितापोंको निरस्त करती हैं।

**'नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।'**
(११।२।५४)

**उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-**
**ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।**
(३।२८।२१)

**'नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम्।'**
(३।८।२६)

इन्हीं दिव्य पादरेणुओंसे भगवती भागीरथी, पापतापापहारिणी गङ्गा प्रसूत हुई, जिसे सिरपर धारणकर शंकरजी कल्याणप्रद तथा कृतकृत्य हुए।

**यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन**
**तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।**
**ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं**
**ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥**
(३।२८।२२)

**'परसि जो पाय पुनीत सुरसरी सोहै तीनि गवनी।**
**तुलसीदास तेहि चरन रेनुकी महिमा कहै मृति कवनी॥'**
(गीता० बाल० ५८।३)

इन चरणोंकी महिमा तथा दिव्यता तो तब देखते बनती थी, जब बलिके यज्ञमें वे क्षणमें ही बढ़ते-बढ़ते भूः भुवः स्वरादि लोकोंको लाँघ गये और ब्रह्मलोकमें जानेपर ब्रह्माजीने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रक्षालन कर अवनेजन जलको अपने कमण्डलुमें रख लिया, जो आकाशमार्गसे गिरकर भगवती गङ्गाके रूपमें तीनों लोकोंको पवित्र करता है—

**धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य**
**पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।**
**स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि**
**लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥**
(श्रीमद्भा० ८।२१।४)

कहाँतक कहा जाय इन दिव्य पादाब्ज-किञ्जल्कोंमें वह जादूभरी गन्ध है जो आत्माराम, परम निष्काम ब्रह्मलीन सनकादि मुनियोंके परम शान्त हृदयमें भी क्षोभ—हलचल पैदा कर देती है।

**तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-**
**किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।**
**अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां**
**संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥**
(श्रीमद्भा० ३।१४।४३)

इन दिव्य पदकमलोंकी सेवाकी रुचि भी अशेष जन्मोंके मलोंका क्षय कर डालती है, फिर सेवाकी बात तो निराली है—

**यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-**
**मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।**
**सद्यः क्षिणोति······।**

उनका ध्यान करनेवाला पुनः संसृतिमें नहीं पड़ता—

**यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः**
**न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥**
(४।२१।३१-३२)

शुद्धात्मा पुरुष इन चरणोंका परित्याग करनेमें वैसा ही भय खाता है, जैसे क्लेशोंका मारा यात्रासे लौटा व्यक्ति अपने घरको छोड़नेमें—

**धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।**
**मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥**
(श्रीमद्भा० २।८।६)

वह ध्याताके सारे मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है और सभी वरदानोंका उद्गमस्थान है—

**'सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।'**
(श्रीमद्भा० २।६।६)

'पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।'
(३ । ८ । २६)

'अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजम् ।'
(४ । २१ । ३३)

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपनी विनयपत्रिका-में उपर्युक्त सारे तत्त्वोंको किस अनूठे ढंगसे एकत्र संगृहीत कर दिया है, यह देखते ही बनता है—

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ।
समन सकल कलेस कलि-मल, सकल मंगल-करन ॥
सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन-बारिज-बरन ।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपट-बटु बलि-छरन ।
बिप्रतिय नृग बधिकके दुख-दोस दारुन दरन ॥
सिद्ध-सुर-मुनि बृंद-बंदित सुखद सब कहँ सरन ।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन ॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन ।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥
(वि० प० २१८)

हाय-हाय ! जिस प्रकार लौकिक भोगसामग्रियोंके स्पर्शके लिये यह पामर, अधम जीव दौड़ता, प्रयत्न करता है, काश ! उसका शतांश भी इन दिव्य चरणरेणुओं-के स्पर्शकी इच्छा हुई होती, चेष्टा की होती—

'चन्दन-चन्दबदनि-भूषनपट ज्यों चह पाँवर परस्यौ ।
त्यौं रघुपति-पद-पदुम-परस कहँ तन पातकी न तरस्यौ ॥'
(वि० प० १७०)

पर ऐसा सौभाग्य कहाँ ? नाथ ! अब तो केवल आपकी कृपामयी मूर्तिका ही एकमात्र अवलम्बन है, सहारा है, प्रतीक्षा है—

'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है ।'

# ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

[ गताङ्कसे आगे ]

( लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती )

## तीन सत्तावाद

जगत् तो प्रारब्धानुसार ज्ञानीको भी भासता है । अद्वैत-वेदान्तमें पदार्थोंकी तीन सत्ताएँ स्वीकार की गयी हैं ।

( १ ) **व्यावहारिक सत्ता**—केवल अविद्याकार्य-ईश्वर-रचित, यथा—साधारण जगत् जिसका जगत्के अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञान बिना बाध नहीं हो सकता । यद्यपि इनका नाश तो ब्रह्मज्ञानके बिना होता है । यह सत्ता जीवके जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहारको सिद्ध करती है ।

( २ ) **प्रातिभासिक सत्ता**—दोषसहित अविद्याके कार्य, यथा—रज्जु-सर्प आदि जिसका ब्रह्मज्ञानके बिना ही निज अधिष्ठान रज्जु आदिके ज्ञानसे बाध हो जाता है । इसका अभिप्राय है प्रतीतिमात्र सत्ता, अथवा प्रतीतिसमकालीन सत्ता ।

( ३ ) **पारमार्थिक सत्ता**—यथा—अखण्ड चिन्मात्र आत्मा-की सत्ता, जिसका किसी कालमें भी बाध नहीं होता । अज्ञान कालमें भी आत्माके ज्ञानका अभाव होता है । ऐसा नहीं होता कि पूर्व किसी कालमें आत्माका ज्ञान हो और पश्चात् उसका बाध हो जाय कि आत्मानुभूति तथा आत्मा मिथ्या है, ऐसा क्रम आत्मानुभूतिके विषयमें नहीं है । आत्मसम्बन्धी ज्ञान अनादि है और आत्मज्ञान होनेपर पुनः उसका बाध नहीं होता; क्योंकि पूर्वभ्रान्ति तथा अयथार्थ पदार्थका बाध होता है । आत्मा परमार्थ सत्ता है और अखण्ड चिन्मात्र अनुभूति भी परम यथार्थ अनुभूति है, भ्रान्ति नहीं, जो कि पुनः उसका किसी अन्य ज्ञानसे बाध हो । अतः अखण्ड चिन्मात्र आत्माका बाध कदापि नहीं होता । इसीलिये आत्मा-की परमार्थ सत्ता कही जाती है ।

कई एक कारणोंसे ये तीन सत्ता वेदान्त-सिद्धान्तमें स्वीकार की जाती हैं । इनके विस्तृत विवेचनका यहाँ न तो अवकाश है और न प्रयोजन । इनमें समानता यह है कि यह तीन ही सत्ता हैं । ऐसा हम नहीं कह सकते कि इन तीनमेंसे कोई नितान्त असत् है यथा खपुष्प या इसका नाम हम अभावमात्र नहीं रख सकते ।

जगत्की व्यावहारिक सत्ताका बाधमात्र ब्रह्मज्ञानद्वारा होता है । व्यवहारकालमें अर्थात् देहपात अथवा मोक्षसे पूर्व

इस सत्ता अर्थात् जगत्का अभाव नहीं होता; तभी तो प्रारब्ध सिद्ध होता है। अथवा जगत्के ब्रह्मज्ञानद्वारा बाध हो जानेपर भी प्रारब्ध जगत् सत्ताको बनाये रखता है। जब प्रारब्ध भोगद्वारा नाश हो जाता है, तब शरीर तथा जगत्का अत्यन्त अभाव ज्ञानीके लिये हो जाता है।

**दो सत्तावाद**—उपर्युक्त तीन सत्ताका निरूपण भेद बुद्धिवाले अधिकारीके लिये है, जो सहसा अद्वैत सिद्धान्त अजातवादका ग्रहण नहीं कर सकता, जिसका निरूपण गौड़पाद-कृत माण्डूक्यकारिका, योगवासिष्ठ, बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक, आत्मपुराण, प्रकाशानन्दकृत सिद्धान्तमुक्तावली, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें किया गया है। अर्थात् जब सब अनात्म-पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की गयी है और चेतन आत्माकी पारमार्थिक सत्ता इस प्रकार केवल दो ही सत्ता स्वीकार की गयी हैं।

### उपर्युक्त तीन अथवा दो सत्ताओंके सिद्धान्तका रूपान्तरसे निर्देश (१) सृष्टिवाद (२) दृष्टिसृष्टिवाद।

(१) सृष्टिदृष्टिवादमें पूर्वोक्त तीन सत्ता स्वीकार की गयी हैं। इसमें जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ता है, जिसका प्रमाणोंद्वारा ज्ञान होता है।

(२) दृष्टिसृष्टिवादी घटपटादि जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ताको स्वीकार नहीं करते। सम्पूर्ण प्रपञ्चकी सृष्टि दृष्टि (उनके प्रत्यक्ष) के समकालीन मानते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न जगत्में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं। स्वाप्नपदार्थ तथा रज्जुसर्प-समान जाग्रत् प्रपञ्च सभी साक्षिभास्य हैं, अन्तःकरण इन्द्रियोंका उपयोग नहीं स्वप्नपदार्थोंके समान चक्षु आदि इन्द्रियोंकी विषयता इनमें भ्रान्तिसे प्रतीत होती है; क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्के पदार्थ भी ज्ञानसे पूर्व विद्यमान हों तो इन्द्रियोंद्वारा उनका ग्रहण सम्भव हो। ज्ञान, इन्द्रियाँ, तथा विषय सब समकालीन हैं। (स्वप्न पदार्थ न तो जाग्रत् जगत्की स्मृति हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष भासते हैं और न लिङ्ग शरीर बाहर जाकर जाग्रत् जगत्को ही स्वप्नमें देखता है; क्योंकि प्राणके बिना लिङ्ग शरीर बाहर जा नहीं सकता और प्राण शरीरमें दूसरे मनुष्यको प्रतीत होते हैं तथा जिन सम्बन्धियोंसे स्वप्नमें मिलाप हुआ है, उनको कुछ ज्ञान नहीं होता; इसलिये स्वप्नके पदार्थ इन्द्रियें और ज्ञाताकी उत्पत्ति होते हैं; क्योंकि जाग्रत् इन्द्रियाँ शरीरमें होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंको ग्रहण नहीं कर सकतीं। सम सत्तावाले पदार्थ ही साधक-बाधक होते हैं। इसलिये स्वप्नमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता उत्पन्न होते हैं और स्वप्नके पदार्थ मिथ्या हैं; क्योंकि देशकाल, माता-पिता आदि कारणकी उचित सामग्री वहाँ नहीं है। इसलिये इनका उपादान अन्तःकरण अथवा अविद्या है और इसका अधिष्ठान साक्षी चेतन अथवा ब्रह्मचेतन है अर्थात् स्वाप्न पदार्थ अविद्या अथवा अन्तःकरणका परिणाम हैं और चेतनका विवर्त हैं।)

दृष्टिसृष्टिवादका परम सिद्धान्त है—

**न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।**
**न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**

(माण्डूक्यकारिका २। ३२)

न जगत्का निरोध अर्थात् नाश होता है, न इसकी उत्पत्ति होती है, न कोई बद्ध है, न साधक, न मुमुक्षु अथवा मुक्त ही है, यही परमार्थ सत्य है।

**अत्र पितापिता भवति, मातामाता, लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः······।**

(बृ० ४। ३। २२, ४। ३। २३, ३२ इत्यादि)

उस सुषुप्ति अथवा ज्ञानदशामें पिता अपिता हो जाता है, अर्थात् पिताभावके निमित्तक कर्मसे इसका सम्बन्ध नहीं रहता, कर्म सिद्धलोक अथवा कर्माङ्गभूत देवता, इसका कर्मसे सम्बन्ध न रहनेसे अलोक तथा अदेवता हो जाते हैं और साध्य-साधन सम्बन्ध बनानेवाले कर्मके अङ्गभूत वेद भी अवेद हो जाते हैं क्योंकि यह तब कर्मसे उत्क्रमण कर जाता है—इत्यादि।

**न माता पिता वा न देवा न लोका**
**न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।**
**सुषुप्तौ निरस्तानि शून्यात्मकत्वात्**
**तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥**

(दशश्लोकी ३)

माता, पिता, देव, लोक, वेद, यज्ञ, तीर्थ आदि नहीं हैं—ऐसा शास्त्र अथवा ज्ञानी कहते हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें शून्यका निराकरण होनेसे मैं अद्वय केवल शिव ही उस समय शेष रहता हूँ।

**अधिकारी**—अनेक जन्मोंके महान् पुण्यसंचयके परिपाकसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे ही इस परम सत्यको ग्रहण कर सकते हैं कि अनन्तकालस्थायी, कार्य-कारणभावसे प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण (जाग्रत्) जगत्

स्वप्नके समान मिथ्या है। आकाश आदिकी उत्पत्ति, कर्म तथा उपासनाकाण्डमें वर्णित साधनोंके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, ब्रह्मलोक, वेद तथा गुरु, जिज्ञासु आदि सब मिथ्या हैं, परंतु साधारण मन्द जिज्ञासुकी बुद्धि सहसा इस परम अद्वैत सिद्धान्त ( अजातवाद, दृष्टिसृष्टिवाद अथवा केवल दो ही सत्ता हैं—पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक ) में प्रवेश नहीं कर सकती। उनकी योग्यताके अनुसार क्रमशः परम सिद्धान्तमें प्रवेशकी योग्यताके सम्पादनार्थ त्रिविध सत्ता अथवा सृष्टि-दृष्टिवादका निरूपण किया गया है। अर्थात् परमेश्वरसे बना जगत् अज्ञात सत्तावाला है, इसकी व्यावहारिक सत्ता है। वेद, गुरु, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी व्यावहारिक सत्ता है। भिन्न-भिन्न विषयोंमें प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर उनका ज्ञान होता है।

उपर्युक्त दृष्टिसृष्टिवादके पुनः दो प्रकार सिद्धान्तलेशके सृष्टिके कल्पक प्रकरणमें कहे हैं—( १ ) जाग्रत् प्रपञ्चकी स्वप्नसमान ज्ञानसमकालीन सृष्टि है। अर्थात् किसी पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्तिकालमें ही उस पदार्थकी उत्पत्ति है और ज्ञाननाश समयमें उस पदार्थका भी नाश हो जाता है।

**दृष्टिरेव हि विश्वस्य सृष्टिरित्यपरा विद्या ज्ञानस्वरूपमेवाहुरित्यतः स्मृतियानिकाः ॥ ४५ ॥**

स्मृति अनुसारी कुछ लोग दृष्टि ही संसार-सृष्टि कहते हैं, ऐसी दृष्टि सृष्टिका अन्य प्रकार है और यह संसार ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं।

**ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः ।**
**अर्थस्वरूपं भ्रामयन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥**

( स्मृति )

इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत्को विवेकी पुरुष ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परंतु कुछ कुदृष्टि-भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप जगत्को ज्ञानसत्तासे भिन्न देखते हैं। ( सिद्धान्तमुक्तावली-जीवानन्द विद्यासागर मुद्रित ३१५ पृष्ठपर इस वादका विस्तृत निरूपण है। )

**अनुभूतिके चार भेद**—उपर्युक्त विवेचनके आधारपर अखण्ड चिन्मात्र परमार्थसत्ताकी दृष्टिसे हम अद्वैत अनुभूतिके ४ भेद कर सकते हैं—( १ ) परमार्थ सत्ता जब कि केवल अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्ता ही अनुभूत होती है, अन्य जगत्का भानतक भी नहीं होता। जगत्की सुषुप्ति समान विस्मृत होती है। यथा उपरतिकी पराकाष्ठारूप निर्विकल्प समाधि, तुर्या अथवा तुर्यातुर्या अवस्थामें।

( २ ) उत्कृष्ट प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत् प्रतीत तो होता है, परंतु प्रतीतिमात्रसे भिन्न उसको जगत् नहीं भासता। अर्थात् इसमें पदार्थकी ज्ञात अथवा अज्ञात स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह उपर्युक्त सिद्धान्तमुक्तावली-उक्त दृष्टिसृष्टिवादका द्वितीय भेद है। यह परमार्थ तत्त्वके अधिक समीप है। इसलिये इसे प्रातिभासिक सत्ताके दूसरे भेदसे प्रथम रखा है।

( ३ ) प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता नहीं, ज्ञात सत्ता है। परंतु ( सं० २ ) में ज्ञात सत्ता भी नहीं, क्योंकि प्रतीतिकालमें प्रतीतिसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता है—दोनों एक ही कालमें उत्पन्न होते हैं। प्रतीति तथा इसका विषय दोनों समकालीन है। इसमें विषयकी प्रतीतिसे भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विषय प्रतीतिसे पृथक् प्रतीतिसमान प्रतीतिके कालमें विषयकी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत केवल प्रतीतिमात्र ही उत्पन्न होती है, पृथक्ता भी भ्रान्ति ही है।

( ४ ) व्यावहारिक सत्ता अथवा सृष्टिदृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता है। प्रतीतिसे भिन्न कालमें भी विषयकी सत्ता रहती है और इसका ज्ञान प्रमाताको प्रमाणद्वारा होता है।

अर्थात् इन चारमें नीचे चतुर्थसे आरम्भ करके जगत्का क्रमशः लोपमिथ्यात्व होता गया है। चतुर्थमें जगत् केवल जन्म, बन्ध, मोक्ष आदि रूप व्यवहारकालमें सत्य है। मोक्ष उपरान्त इसका अभाव हो जाता है। केवल परमार्थ अखण्ड चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है। तृतीयमें जन्म, बन्ध, मोक्ष मिथ्या है, परंतु केवल प्रतीतिकालमें सत्य है। द्वितीयमें प्रतीतिकालमें भी जगत्की केवल प्रतीति है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। विषयप्रतीतिमात्र सत्य है। विषयमात्र सत्य नहीं, यह अजातवाद है। प्रथममें जगत् द्वैत प्रतीतिका नितान्त अभाव है। केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मात्मा अपनी अद्वय महिमामें प्रकाशित है।

हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि प्रमाणके वैमत्य, परस्पर विरोधका परिहार प्रथम तीन भूमियोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा हो जानेपर ब्रह्मात्माके ब्रह्माकार वृत्तिद्वारा साक्षात् होनेपर जिज्ञासु सत्त्वापत्ति चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है। यह इसीलिये सत्त्वापत्ति कहलाती है कि अब इसमें तम-रजको पूर्णतया अभिभूत करके शुद्ध सत्त्वका रज-तमकी कालिमारहित प्रकाश होता है, जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि तुर्यातुर्यास्थितिमें

संकल्प-विकल्पात्मक तथा त्रिपुटीभेदरूप मन अपने स्वरूपको खो बैठता है; मन जलमें लवण-समान विलीन हो जाता है। जैसे लवण नहीं भासता केवल जल ही भासता है, ऐसे ही मन नहीं भासता केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही आत्मरूप ( निजस्वरूप ) से भासता है। जगत् द्वैतका बाध हो जाता है; परंतु मनकी यह अवस्था सदा नहीं बनी रहती, फिर इसका व्युत्थान होता है। व्युत्थान दशामें जगत्में पूर्व समान सत्यत्व बुद्धि तो कदापि नहीं हो सकती, मिथ्यात्व-बुद्धि ही होती है। परंतु पुण्यपरिपाक प्रारब्ध अथवा अभ्यास-पाटवताके तारतम्यके कारण मिथ्यात्व-दृष्टिमें उपर्युक्त अवान्तर भेद रहते हैं, जिसके कारण व्युत्थानकालीन व्यवहारमें भी भेद रहता है। व्यवहार-भेदका कारण दृष्टिभेद और दृष्टिभेद-का कारण प्रारब्ध तथा अभ्यास-तारतम्य होता है। सो अब हम उपर्युक्त विवेचनके आधारपर ज्ञानकी सिद्धभूमियों-की दृष्टि तथा व्यवहारका निर्णय करेंगे।

सिद्ध ज्ञानीकी भूमिके भेदका आधार हम पूर्व यह कह चुके हैं कि समाहित अवस्थामें स्वरूप-स्थिति होती है। स्वरूपमें भेद सम्भव नहीं है। मनका व्यक्तस्वरूप नहीं होता, वह भी आत्मामें लीन होता है। परंतु प्रत्येक भूमिकाकी दृष्टि-अनुसार संस्कारोंका भेद होता है। इसलिये इन संस्कारों-की दृष्टिसे अथवा लीन दृष्टिसे अवश्य तारतम्य कहा जा सकता है। वेदान्तके सिद्धान्तों यथा ३ शरीर, ५ कोश, ३ सत्ता, २ सत्ता, दृष्टिसृष्टिवाद आदिका सामान्य ज्ञान तो एक नास्तिकको भी हो सकता है। इसलिये एक श्रद्धालु जिज्ञासु अथवा ज्ञानीके विषयमें ( बुद्धिके वेदान्तकी प्रक्रियाके ज्ञानके विषयमें ऊहापोहके आधार ) कैसे संदेह हो सकता है। परंतु यदि बुद्धिके ऊहापोहद्वारा संशयात्मक अथवा संशयरहित ज्ञानसे ही निर्वाह हो जाता तो तर्ककुशल पण्डित नास्तिक न देखे जाते तथा शोक-मोहग्रस्त न होते। इसलिये सत्ता-भेद तथा दृष्टि-सृष्टिभेदकी प्रक्रियाके ज्ञानमात्र तथा ब्रह्मसाक्षात्कारसे भी यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तवमें ज्ञानियोंका जगत्-मिथ्यात्वका साक्षात् अनुभव व्यावहारिक सत्ता तथा सृष्टिदृष्टिके आधारपर है। अथवा प्रातिभासिक सत्ता तथा दृष्टि-सृष्टिके आधारपर है और प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टि-सृष्टिका भी कौन-सा भेद कार्य करता है। प्रतीति-समकालीन अथवा प्रतीतिमात्र जगत् भासता है। सो साक्षात्कार ज्ञानीकी दशामें समाहित आदि कालीन आत्मा-नुभूतिमें साधारणरूपसे भेद न होनेपर भी व्युत्थानकालीन मिथ्यात्व-दृष्टिमें भेद होता है। उसीके कारण व्यवहारमें भेद होता है। अब इसका विवेचन करना है। इसे निम्नतम स्तरसे आरम्भ किया जाता है।

( १ ) 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिकामें जगत्-मिथ्यात्व बुद्धिका आधार सृष्टि-दृष्टिवाद तथा व्यावहारिक सत्ता होती है। जगत्-मिथ्यात्व भासनेपर भी व्यवहार कालमें सत्य भासता है। व्यवहारकालमें भी वेद, शास्त्र, गुरु, शिष्य, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, जिज्ञासु, साधन, उपदेश तथा लोकव्यवस्था सब सत्य भासती है। यदि ऐसा न हो तो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी भी जिज्ञासुको आत्माका उपदेश नहीं कर सकता, अन्य व्यवहारकी तो बात ही क्या है ? क्योंकि यथार्थ व्यवहार केवल दृष्टिके अनुसार ही होता है। किसी वेदान्त ग्रन्थकी वर्णित प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टि-सृष्टिवादको जिज्ञासुको समझाना और बात है; परंतु दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूति अथवा स्थितिमें यह असम्भव है। व्युत्थानकी तीन स्थिति भी सदा एकरस नहीं रहती, इसमें उतार-चढ़ाव रहता ही है। भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न स्थिति भी हो सकती है अथवा सामान्यरूपसे भी सृष्टि-दृष्टिस्थितिमें तारतम्य हो सकता है। इसलिये ज्ञानी इस निजानुभूत स्थितिके आधारपर भी दृष्टिसृष्टिवादका उपदेश कर सकता है। अथवा शास्त्रोक्त प्रक्रियाके ज्ञानके आधारपर भी; परंतु दृष्टिसृष्टिकी दृढानुभूतिकी दशामें यह उपदेश नहीं बन सकता; क्योंकि तारतम्यके आधारपर भी यह उपदेश होता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि दृष्टिसृष्टिवाद अथवा ५, ६, ७ भूमिकाका उपदेश केवल कल्पनापर अवलम्बित है, अनुभूतिपर नहीं। चतुर्थ भूमिका अथवा पञ्चम भूमिकाके भी तारतम्यताके आधारपर कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। चतुर्थ भूमिकाकी उन्नत दशामें तथा पञ्चम भूमिकाके निम्नस्तरमें दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूतिके आधारपर इस विषयमें उपदेश आदि सम्भव है। उपर्युक्त विवेचनका सार यही है कि चतुर्थ भूमिकामें आरूढ़ ज्ञानीको अखण्ड-अद्वयचिन्मात्र आत्माका साक्षात्कार होता है और जगत्में मिथ्यात्व बुद्धि होती है, परंतु जगत्में व्यावहारिक सत्ताका शेष अनुभव जरूर होता है और समाहित अवस्थामें इसीके संस्कार रहते हैं। इस अवस्थाके काल अथवा गम्भीरता इन संस्कारोंपर ही निर्भर है। यह समाहित अवस्था इतनी गहरी नहीं होती। मनका आत्मामें लय होनेपर इन संस्कारोंके आधारपर लीनतामें तारतम्य रहता है। यह

लीनता अभ्यासकी अधिकतासे क्रमशः बढ़ती जाती है और दृष्टिसृष्टिवादकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अन्ततः यहीं दृष्टि स्थिर हो जाती है, व्यवहार शिथिल पड़ जाता है और ज्ञानी पाँचवीं भूमिकामें प्रवेश करता है। उपदेश आदि व्यवहार शिथिल पड़ने लगते हैं। चतुर्थ भूमिकामें जीवन्मुक्तिकी साधना प्रारब्धानुसार सम्यक्रूपसे की जाती है।

पञ्चम 'असंसक्ति' भूमिकामें जगत्-मिथ्यात्वकी व्यावहारिक दृष्टिका भी बाध हो जाता है। प्रातिभासिक दृष्टि अथवा दृष्टि-सृष्टिवादकी दृष्टि स्थिर हो जाती है—ऐसा ही अनुभव होता है। यह ऐसी स्थिति है जैसे सर्प चर्मके नितान्त झड़नेसे पहिले उसकी स्थिति होती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि जैसे वह चर्म सर्पकी देहसे पृथक् होता है, परंतु फिर भी देहके साथ ही लगा है। इसलिये देहके साथ उसका ऐक्य न होते हुए भी इनका ऐक्य भासता है। इसीलिये इस भूमिकाका नाम असंसक्ति है। यहाँ संसारमें आसक्ति नाममात्रकी भी नहीं रहती। अनासक्ति वैराग्य तो साधन-चतुष्टयसम्पन्न साधकमें भी होता है। इसलिये पूर्व भूमियोंमें भी इसका होना सहज है, परंतु इतना भेद होता है कि साधकका नित्यानित्य विवेकजन्य वैराग्य होता है, परंतु आगामी ज्ञानभूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वके ज्ञानके क्रमशः विकाससे इसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अन्तमें चतुर्थ भूमिकामें परम रसके साक्षात्कारसे यत्किंचित् रस भी जाता रहता है (गीता २, ५९)। इसकी नितान्त परिपक्व अवस्थाके कारण ही पञ्चम भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। यही भेद इसके विशेष नामका कारण है। परंतु यह दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्रातिभासिक सत्ता-अनुभूति अभी निम्न प्रकारकी है। जिसमें प्रतीति-कालमें जगत्, जन्म, बन्ध, मोक्ष, साधक, साधना आदि सत्य भासते हैं। इसीके आधारपर व्यवहार भी होता है। परंतु उसमें चतुर्थ भूमिकाके समान स्थिरता तथा पूर्वापर क्रम नहीं होता; क्योंकि प्रतीतिके अभाव होनेपर बन्ध-मोक्ष, शिष्य-गुरु, साधना आदिका अभाव दीखता है। इसलिये इस शिक्षादि व्यवहारमें एक क्रमयुक्त स्थिर विधि नहीं होती। उपस्थित होनेपर प्रतीति-कालमें जैसे सूझा वैसे कर दिया। यहाँ गुरु-शिष्य व्यवहार नहीं रह सकता। ऐसे महात्माओंका एक वचन, संकेत, स्पर्श, सङ्ग, सेवा, शुश्रूषा ही लौकिक तथा आध्यात्मिक अनेक गुत्थियोंको सुलझा देती है (मुण्डक ३, सांख्य ३, २)। इसमें शिक्षा, उपदेश आदि व्यवहारका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि अभी प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टिसृष्टि केवल प्रतीतिमात्र नहीं। प्रतीतिकालीन सत्ता शेष अभी अनुभव होती है। प्रारब्धानुसार अभ्यासपाटवतासे इसके संस्कारोंमें वृद्धि होती जाती है। इसलिये चतुर्थ भूमिका तथा पञ्चम भूमिकाके व्युत्थानमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्थाके प्रवेशमार्ग (स्थल) में तथा समाहित-कालीन संस्कारों तथा उनके कारण मनकी तीन अवस्थामें दोनों भूमियोंमें भेद होता है। पञ्चम भूमिमें दृष्टिसृष्टि मार्गसे निर्विकल्पमें प्रवेश होता है। इसलिये इसमें संस्कार भी इसी दृष्टिके क्रमशः बढ़ते हैं और मनकी तीन अवस्था भी गम्भीर होती है। क्रमशः यह गम्भीरता बढ़ती जाती है और अन्तमें ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादकी उत्कृष्ट श्रेणीमें प्रवेश करता है। पञ्चम भूमिकामें जहाँ उपदेश आदि व्यवहारकी शिथिलता होती है, क्योंकि प्रतीति समकालीनमात्र जगत् भासता है, इसीलिये जीवन्मुक्तिके साधन अभ्यासमें शिथिलता होती है। परंतु प्रयत्नके अभावमें भी सहज अभ्यास होता है। इसलिये चतुर्थ-की अपेक्षा समाहित अवस्था दीर्घ तथा गम्भीर होती है।

षष्ठ 'पदार्थाभावनी' भूमिकामें दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्राति-भासिक सत्ताकी उत्कृष्ट श्रेणीकी अनुभूति स्थिर होती है। जैसे इसका नाम सिद्ध करता है। इसमें पदार्थोंका नितान्त अभाव प्रतीत होता है। इस दृष्टिसृष्टिवादमें प्रातिभासिक-प्रतीतिमात्र ही पदार्थोंकी सत्ता है। पूर्व समानपदार्थ प्रतीति-कालमें उत्पन्न नहीं होते। इसलिये इनकी प्रतीतिकालमें भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। केवल प्रतीति होती है—जैसे सर्प, सिंह, मित्रका चित्र। इसलिये जैसे यह निश्चय होनेपर कि यह सर्प, सिंहका चित्र है देखनेवालेको यत्किंचित् भय नहीं होता, न इससे भासता है, न मित्रको मिलनेके लिये बढ़ता है। जैसे सर्कसमें सिंहको देखता है, ऐसे ही इस भूमिकावाला पदार्थोंको केवल देखता है; उसे यह दृढ़ निश्चय होता है कि पदार्थ हैं नहीं, केवल इनकी प्रतीति हो रही है। पञ्चम भूमिकाके समान न तो प्रतीति-कालमें इनका भाव होता है, न समाहित दशा अथवा सप्तम भूमिकाके समान इसकी प्रतीतिका अभाव होता है। जगत्के पदार्थोंकी प्रतीति अवश्य होती है; परंतु यह निश्चय होता है कि ये पदार्थ नहीं हैं। दृष्टिसृष्टिकी उत्कृष्ट स्थितिकी तथा साक्षात् अनुभूति इसी भूमिकामें एकरस होती है, अन्यत्र निम्नभूमिकाओंमें कुछ कालके लिये सम्भव ही हो सकती है। इसीके आधारपर कहा जा सकता है कि इस

भूमिकाकी अनुभूति तथा स्थितिका वर्णन केवल कल्पनामात्र नहीं। अन्यथा जो ज्ञानी एकरस इसी स्थितिमें रहता है, वह उपदेश आदि व्यवहार तो कदापि नहीं कर सकता, जिससे उसकी स्थिति तथा अनुभूतिका पता चले। यहाँ जगत्का नितान्त अभाव नहीं होता। चित्रके समान जगत्की प्रतीति शेष रहती है। यह बाध मिथ्यात्वकी पराकाष्ठा है। यहाँ समाहित अवस्थासे व्युत्थान अवश्य होता है, जगत् भासता है, परंतु प्रतीतिमात्र इसीलिये समाहित अवस्थामें प्रवेशका द्वार भी यही दृष्टि है। इसीके संस्कार निर्विकल्प स्थितिमें रहते हैं, जिसके कारण यह अवस्था दीर्घकालीन तथा गम्भीर होती है। मनकी लीनता भी इसी पराकाष्ठाकी होती है। इसलिये व्युत्थान होनेपर पूर्वसे व्युत्थानकालीन अनुभूतिकी दृढ़ता बढ़ती जाती है। व्युत्थान तथा समाधि दोनों परस्पर सहायक हैं। इस दृष्टिसे साधारणतया आत्मानुभूति तथा स्थिति इन ज्ञान भूमिकाओंमें समान होनेपर भी व्युत्थान-कालीन दृष्टिमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्था-में भी काल तथा गम्भीरताका भेद होता है। यह स्थिति सहज बढ़ती जाती है, तो ज्ञानी सातवीं भूमिकामें प्रवेश करता है।

सप्तम 'तुर्या' नामक भूमिकामें सृष्टिदृष्टिवादको भी अवकाश नहीं मिलता; क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद तथा व्यावहारिक-प्रातिभासिक सत्ताकी गति तो वहाँतक है जहाँ जगत्में द्वैत भास रहा है। इस भूमिकामें मनकी लीनता इतनी पराकाष्ठा-की होती है कि उसका स्वतः उत्थान होता ही नहीं। यहाँ केवल परमार्थ सत्ताकी निर्बाध स्फूर्ति होती है। इस भूमिका-में विदेह मोक्ष तथा इस स्थितिका ज्ञानीकी दृष्टिसे मानो एक प्रकारका नितान्त भेद नहीं होता, क्योंकि फिर वह जगत्-भेदको देखता ही नहीं। उसका जीवित शरीर दूसरोंको भासता है, जो स्थितिके साधन अन्नपान आदि न प्राप्त होनेसे थोड़े ही दिनोंमें शान्त हो जाता है। जैसे द्वैतका ज्ञानीको भान नहीं होता। सो इस भूमिकामें जगत्की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताका भी नितान्त अभाव हो जाता है, केवल अखण्ड-चिन्मात्र पारमार्थिक सत्ता ही शेष रह जाती है, यह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। शेष भूमिकाओंमें जगत् किसी-न-किसी रूपमें रहता है।

## उपसंहार

ज्ञानकी इन सात भूमिकाओंके अतिरिक्त जगत् द्वैत सत्य भासता है। इसीलिये वह अज्ञानी-की अवस्था कहलाती है। ये सात ज्ञानकी भूमिका कहलाती हैं, क्योंकि इनमें जगत्द्वैत सर्वथा नहीं तो किसी अंशमें जरूर मिथ्या भासता है। प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी साधन-भूमिका हैं और शेष चार ज्ञानकी सिद्ध भूमिकाएँ हैं। प्रथम तीनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन होते हैं, जिससे क्रमशः शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा जगत्-मिथ्यात्वका बोध होता है। जगत्के मिथ्यात्वका उपर्युक्त त्रिविध प्रमाणद्वारा सम्यक् बोध होनेसे साधक चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है। साधकसे सिद्ध हो जाता है। इससे पूर्व साधक ही रहता है; क्योंकि इससे पूर्व प्रमाणोंमें परस्पर विरोध रहता है। वे भिन्न-भिन्न राग आलापते हैं, श्रवण साधन सिद्ध होनेपर शब्द-प्रमाणसे जगत्-मिथ्यात्व तथा अद्वय आत्माका ज्ञान कराता है, परंतु अनुमान तथा प्रत्यक्षसे भेद सिद्ध होता है। दूसरी विचारा-भूमिके साधन मननद्वारा अनुमान भी शब्द-प्रमाणका अनुमोदन करता है; परंतु प्रत्यक्ष अनुभूति भेदकी रहती है। यह भी निदिध्यासनद्वारा इस भूमिकामें निवृत्त हो जाती है अर्थात् प्रथम तीन भूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वका बोध क्रमशः भिन्न-भिन्न प्रमाणोंके परस्पर विरोधके परिहारद्वारा शुद्ध होता है। इसीलिये इन्हें 'ज्ञानकी साधनभूमियाँ' कहा गया है। चारसे सात सिद्धभूमियाँ हैं, क्योंकि इनमें अद्वय आत्माका साक्षात्कार समान है। इनके भेदका आधार जगत्-की व्युत्थानकालकी व्यावहारिक आदि सत्ताके आधारपर है। अथवा समाहित अवस्थाके काल, संस्कार तथा गम्भीरताके आधारपर है, परंतु विशेष व्यक्त भेद व्युत्थानकालीन व्यवहार तथा तन्मूल दृष्टिके कारण है।

**जगत्-मिथ्यात्वकी सत्तामें भेद**—चतुर्थ भूमिकामें ज्ञानीकी दृष्टिमें जगत्की व्यावहारिक सत्ता होती है। इसीके आधारपर जिज्ञासु उपदेश आदि व्यवहार सुष्ठुरूपसे होता है। यह पूर्वकी तीन तथा पश्चात्की तीन भूमिकाओंके मध्यकी है। साधना तथा सिद्धि दोनोंसे परिचित है, यही आचार्य-भूमि है। शेष तीन सिद्धभूमियोंमें ज्ञानी साधना, जिज्ञासु-रूप द्वैतसे दूर चला जाता है, इसलिये वह आचार्यका कार्य नहीं कर सकता। पाँचवीं भूमिकामें ज्ञानीकी जगत्में निम्न श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ताकी दृष्टि होती है, प्रतीतिकाल-में जगत् स्वतन्त्र सत्य भासनेसे व्यवहार बहुत न्यून हो जाता है। षष्ठमें ज्ञानीकी जगत्में उत्कृष्ट श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ताकी दृष्टि होती है, जगत् प्रतीतिमात्र भासता है। पृथक् स्वतन्त्र जगत्का अभाव भासता है। सप्तममें जगत्का भान ही नहीं

होता, अखण्ड अद्वय चिन्मात्र तत्त्व ही भासता है । इस प्रकार जगत् मिथ्या है, इस ज्ञानमें क्रमशः विकास होता जाता है । इसलिये यह सब ज्ञान-भूमिका कहलाती हैं । प्रथम तीनमें प्रमाणविरोधका परिहार होता है, क्रमशः जगत्-मिथ्यात्व-बुद्धिका विकास होता है और शेष चार भूमिकाओंमें पूर्वकी भूमियोंकी साधनासे प्राप्त सम्यक् मिथ्यात्व दृष्टिमें सत्ताभेदसे विकास होता है । चतुर्थमें व्यावहारिक सत्ता, पञ्चममें प्रातिभासिक (कालीन) स्वतन्त्र सत्ता, षष्ठमें प्रातिभासिक (प्रतीति-) मात्र सत्ता तथा सप्तममें जगत्-प्रतीतिका अभाव—केवल परमार्थसत्ताकी प्रतीति ।

## भूमिका-सार

| भूमिका | आधार |
|---|---|
| १–भूमिकामें जगत्-मिथ्याका शब्द-प्रमाणद्वारा बोध होता है । | प्रमाणविरोध परिहार । मिथ्यात्व भेदप्रमाणके आधारपर । |
| २– ,, ,, अनुमान ,, ,, | |
| ३– ,, ,, प्रत्यक्ष ,, ,, | |
| ४–भूमिकामें जगत् मिथ्या होनेपर भी इसकी व्यावहारिक सत्ता शेष रहती है । –प्रतीति कालमें मिथ्या नहीं । | मिथ्यात्व भेदसत्ता अथवा कालके आधारपर । |
| ५–भूमिकामें प्रातिभासिक सत्ता ( क ) प्रतीतिकालीन सत्ता । | |
| ६– ,, ,, ( ख ) प्रतीतिमात्रकी सत्ता । प्रतीतिकालकी मिथ्या । | |
| ७– ,, ,, प्रतीतिका भी अभाव हो जाता है । मिथ्या सत्यका यहाँ प्रश्न ही नहीं है । | |

## भूमिकाओंका वर्णन वेदान्त-ग्रन्थोंमें

१–मुण्डकोपनिषद् ३; १, ४ ।

२–अक्ष्युपनिषद् ४ । ४१ ।

३–अन्नपूर्णोपनिषद् ५, ८१–९० ।

४–योगवासिष्ठ ६ ३, १२६ सम्पूर्ण विशेषतया ४–१३, १५–१८, २०–२२, ५८–६०, ६२–६५, ६६–६९, ७१–७३ ।
६, ८–१०, १–८ ।
३, ११८, ३–१६ ।

५–सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह ९४१–९४८ ।

६–वराहोपनिषद् ४ मन्त्र १–१०, ३० ।

७–महोपनिषद् ( ५–२७–३५ ) ५, ८, २० ।

८–बोधसार भूमिका-निर्णय, अज्ञानभूमिका माण्डूक्य उपनिषद्–३, १, ४ ।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

जो ईश्वर प्राणोंके प्राण तथा सर्वप्राणियोंके आत्मरूपसे विविध प्रकारसे प्रकाशक है, जो साधक इसको (आत्मभावसे) जानता है ( यथा–यह ईश्वर मैं हूँ तथा सर्व आत्मा ही है, इससे अन्य दूसरा कुछ नहीं है ) वह अन्य अनात्मपदार्थोंके विषयमें बात नहीं करता । वह आत्मामें ही क्रीड़ा करता है, आत्मामें ही उसकी प्रीति होती है, वह आत्मज्ञानध्यानकी ही क्रिया करता है । वह ब्रह्मज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ होता है । ( भाष्यकार ) तत्त्वानुसंधान-अनुसार इसमें सिद्धज्ञानियोंकी चतुर्थ भूमिकाओं ( ४–७ ), का वर्णन है । यथा ( १ ) आत्मक्रीडा—मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा अपरोक्ष ज्ञानवाला ब्रह्मवित्, यह चतुर्थ भूमिकाका वर्णन है । ( २ ) आत्मरति–अनात्म-प्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माका निरन्तर साक्षात्कारवाला ब्रह्मविद्वर–पाँचवीं भूमिकावाला ज्ञानी । ( ३ ) क्रियावान्—आत्मानन्द निरन्तर अनुभवरूप क्रियावाला षष्ठ भूमिकावाला ज्ञानी । ( ४ ) विद्वद्वरिष्ठ—सप्तम भूमिकावाला सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी ।

( क्रमशः )

# महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[ नाटक ]

[ गताङ्कसे आगे ]

( लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी )

## पाँचवाँ अङ्क

### पहला दृश्य

**स्थान**—अड़ेलमें वल्लभाचार्यकी बैठकके बाहरका स्थल।

**समय**—तीसरा पहर।

[ पीछेकी ओर वल्लभाचार्यकी छोटी बैठकका कुछ भाग दिखायी देता है। उसके पीछे गङ्गा बह रही हैं। बैठकके सामनेका स्थल वृक्ष और लता-गुल्मोंसे एक छोटेसे उद्यानके सदृश दिखायी देता है। अनेक तरु-लता फूले हुए हैं। दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा और जादवेन्द्रदास कुम्हार बैठे हुए हैं। सबके मुख उतरे हुए हैं, सभी उदास हैं। कोई सिर झुकाये है, कोई सामनेकी ओर शून्य दृष्टिसे देख रहा है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

**दामोदरदास हरसानी**—कहो, भाई! किसीके कुछ समझमें आता है कि क्या किया जाय।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**—मेरी तो समझमें आनेसे रहा। मेरा काम है, नित नये मिट्टीके बर्तन बनाकर सेवा करना।

**वासुदेवदास छकड़ा**—और मेरी समझमें भी क्या आयगा? मेरा काम था बोझा ढोना, तीन पृथ्वी-परिक्रमाओंमें इक्कीस वर्षतक उस बोझेको ढोया। उसके पश्चात् जब बोझा ढोनेका काम गया, भोजन ही घट गया और बिना भोजनके बुद्धि कहीं काम करती है?

[ वासुदेवदास छकड़ाकी बात सुन इस शोकमय वातावरणमें भी सबको हँसी आ जाती है। फिर कुछ देर निस्तब्धता। ]

**दामोदरदास हरसानी**—मेरी बुद्धिको तो कुण्ठित कर रहे हैं, अबतकके जीवनके वे सारे सुखद संस्मरण जो जीवन श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी सेवामें बीता है।

**कृष्णदास मेघन**—आप तो उनके सबसे निकटतम व्यक्ति हैं। वे संस्मरण आपकी बुद्धिको कुण्ठित करते हों इसमें आश्चर्य ही क्या! पर आप उनके जितने निकट हैं हम उतने न भी सही, फिर भी हममेंसे ऐसा कौन है जो इन चालीस वर्षोंतक उनके साथ रहनेपर इन चालीस वर्षोंके संस्मरणोंसे ओत-प्रोत न हो।

**दामोदरदास हरसानी**—अरे, हम तो इस दीर्घकालतक निरन्तर उनके साथ रहे। अतः हमारी तो यह दशा स्वाभाविक ही है, जो एक बार भी उनके दर्शन कर पाता है, वह जीवन भर उनके पुनः दर्शनके लिये आकुल रहता है।

**वासुदेवदास छकड़ा**—हाँ, यह तो मैंने भी निरन्तर देखा है।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**—मैंने भी।

**दामोदरदास हरसानी**—और उनका यह संन्यास अब हम सबको इस अलौकिक सहवाससे वञ्चित कर देगा। धन्यभाग्य था माधवभट्ट काश्मीरीका जिन्होंने ऐसे समयके पूर्व इस संसारको ही छोड़ दिया।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**—परंतु, हम सब भी तो संन्यास ले सकते हैं।

**वासुदेवदास छकड़ा**—वे संन्यासियोंकी इस टोलीको अपने साथ रखना स्वीकार करें तब तो।

[ फिर सबको हँसी आ जाती है ]

**कृष्णदास मेघन**—परंतु संन्यासकी अवस्थामें हम सबको साथ न रखनेका उनका विचार तो ठीक ही है।

**वासुदेवदास छकड़ा**—यह क्यों?

**कृष्णदास मेघन**—इसलिये कि सच्चा संन्यास निरासक्तिकी सीमा है। हम संन्यासी होना चाहते हैं उनके सहवासकी आसक्तिके कारण। वह संन्यास नहीं, पाखण्ड होगा। इसीलिये आजकलकी परिस्थितिमें वे अपनेको छोड़कर अन्य किसीके संन्यास लेनेके पक्षमें नहीं हैं।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**—तब, क्या किया जाय?

[ फिर कुछ देर निस्तब्धता ]

**दामोदरदास हरसानी**—अभी, गोपीनाथजी और विट्ठलनाथजी वयस्क नहीं हुए हैं, अतः सम्प्रदायके हितकी दृष्टिसे भी उनका संन्यास लेना उचित नहीं।

**कृष्णदास मेघन**—परंतु, वे कहते हैं, पृथ्वी-परिक्रमामें सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अखिल भू-मण्डलके कोने-कोनेमें

पहुँचा दिया। सम्प्रदायकी सुरक्षाके लिये सारी ग्रन्थ-रचना कर डाली। श्रीनाथजीकी सेवाका कार्य रामदास साँचोरा और कृष्णदासके सदृश उत्तरदायी व्यक्तियोंको सौंप दिया। श्रीनाथजीके कीर्तनके लिये सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदासके सदृश कीर्तनियोंको नियुक्त कर दिया। विवाह कर सम्प्रदायके आगेके प्रचारके लिये योग्य उत्तराधिकारियोंको उत्पन्न कर दिया और जबतक वे अल्पवयस्क हैं, तबतक हरसानीजी सम्प्रदायका कार्य चलायेंगे। अतः उन्हें अब संन्यास लेना ही चाहिये।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**–परंतु, उनकी भी अभी बहुत अवस्था नहीं हुई है।

**वासुदेवदास छकड़ा**–और हमारी संस्कृतिमें तो पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें वानप्रस्थका विधान है।

**दामोदरदास हरसानी**–परंतु, इतने शीघ्र उनके संन्यास लेनेके विचारका एक कारण है।

**कृष्णदास मेघन**–कौन-सा ?

**दामोदरदास हरसानी**–एक दिन कहते थे दो बार भगवान्‌की आज्ञा हो चुकी शीघ्र स्वधाम लौटनेकी।

**कृष्णदास मेघन**–ऐसा !

**दामोदरदास हरसानी**–एक बार गङ्गासागर-संगमपर और दूसरी बार मधुवनमें। परंतु, उस समयतक वे यह मानते थे कि अभी उनका कुछ कार्य अवशिष्ट है। अब कहते हैं कि कार्य समाप्त हो गया। अतः यदि तीसरी बार आज्ञा हुई तो उसकी उपेक्षा न हो सकेगी।

**कृष्णदास मेघन**–इसीलिये संन्यासकी शीघ्रता है ?

**दामोदरदास हरसानी**–हाँ, इसीलिये।

**कृष्णदास मेघन**–( विचारते हुए ) तीसरी बार आज्ञा हो तो। अतः इस समय तो संन्यासका यह प्रस्ताव टालना ही चाहिये और इसके लिये मुझे एकाएक एक उपाय सूझा है।

**सब एक साथ**–( उत्सुकतासे ) कौन-सा ?

**कृष्णदास मेघन**–हमारे धर्ममें संन्यासके लिये यदि माता हो तो माताकी, तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा आवश्यक है।

**दामोदरदास हरसानी**–( प्रसन्नतासे ) ठीक, सर्वथा ठीक। तो चलो हम सब अक्काजीसे कहें, वे उन्हें संन्यासकी अनुमति कदापि न दें।

**सब**–( एक साथ प्रसन्नतासे ) शीघ्र चलो।

**दामोदरदास हरसानी**–हाँ, हमारे पहुँचनेमें कहीं देर न हो जाय और वे आज्ञा न ले लें।

[ चारों उठकर जाना ही चाहते हैं कि अक्काजीका प्रवेश। उन्हें देख चारों दण्डवत् करते हैं। ]

**दामोदरदास हरसानी**–बड़ा अच्छा शकुन है। हम लोग आपकी सेवामें आ रहे थे, सौभाग्यसे आप ही पधार आयीं।

**अक्काजी**–कहिये, क्या आज्ञा है ?

**कृष्णदास मेघन**–हमारी आज्ञा ! आप हँसी कर रही हैं।

**अक्काजी**–सब लोग इकट्ठे होकर आते थे न !

**वासुदेवदास छकड़ा**–इकट्ठे होकर तो इसलिये आ रहे थे कि प्रार्थनामें कुछ बोझा हो जाय।

**जादवेन्द्रदास कुम्हार**–इन्हें तो सदा बोझा-ही-बोझा दीखता है।

**अक्काजी**–बहुत ढोया न !

**वासुदेवदास छकड़ा**–अब ढोनेको नहीं मिलता। इसलिये वह और अधिक याद आता है। ( दीर्घ निःश्वास छोड़कर ) वे भी दिन थे।

**कृष्णदास मेघन**–( दीर्घ निःश्वास छोड़कर ) हाँ, दिन कब सदा एक-से रहते हैं !

**अक्काजी**–तो कहिये, कैसे आ रहे थे ?

**दामोदरदास हरसानी**–आपने वज्रपातवाला संन्यास लेनेका समाचार सुना ही होगा !

**अक्काजी**–( दीर्घ निःश्वास छोड़कर ) हाँ, सुना है।

**कृष्णदास मेघन**–फिर ?

**अक्काजी**–( पुनः दीर्घ निःश्वास छोड़कर ) फिर क्या कहूँ ! मैं तो आज्ञानुगामिनी हूँ।

**कृष्णदास मेघन**–आज्ञानुगामी तो हम सभी हैं। पर धर्मशास्त्रके अनुसार संन्यास लेनेमें उन्हें आपका आज्ञानुगामी बनना होगा।

**अक्काजी**–( कुछ प्रसन्नतासे ) ऐसा !

**कृष्णदास मेघन**–धर्मशास्त्रमें स्पष्ट निर्देश है कि यदि माता हो तो माताकी आज्ञा बिना तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा बिना कोई संन्यास नहीं ले सकता।

**अक्काजी**–( अत्यन्त प्रसन्नतासे ) तब मैं आज्ञा देनेवाली नहीं हूँ ।

**दामोदरदास हरसानी**–( प्रसन्नतासे ) हमारा काम हो गया ।

[ चारोंका दण्डवत् कर प्रस्थान, अक्काजी इधर-उधर घूमकर लता-गुल्मों और उनके पुष्पोंको देखती हैं और गाने लगती हैं । ]

हरि तेरी लीला की सुधि आवति ।
कमल नयन मोहन मूरति कौ
मन मन चित्र बनावति ॥
एक बार जेहि मिलत दया करि
सो कैसे बिसरावति ।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि
चाल मनोहर भावति ॥
कबहुँक निबिड तिमिर आलिंगनि
कबहुँक पिक स्वर गावति ।
कबहुँक संभ्रम 'क्वासि क्वासि' करि
संग हीन उठि धावति ॥
कबहुँक नयन मूँद अंतर गति
बनमाला पहरावति ॥
परमानँद प्रभु स्याम ध्यानि करि
ऐसे बिरह गमावति ॥

[ गान पूर्ण होनेपर वल्लभाचार्यका प्रवेश । वल्लभाचार्यको देख अक्काजी उनके निकट आ जाती हैं और दोनों एक वृक्षके नीचे बैठ जाते हैं । ]

**वल्लभाचार्य**–अब मैं जीवनके अन्तिम कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये तुमसे आज्ञा लेने आया हूँ ।

**अक्काजी**–संन्यास लेनेकी न ! वह मैं सुन चुकी हूँ और उस विषयमें कोई वाद-विवाद, तर्क-वितर्क करनेके लिये प्रस्तुत नहीं । मेरी अनुमतिके बिना आप चाहें तो संन्यास ले सकते हैं । ( उठकर जाने लगती हैं । )

**वल्लभाचार्य**–सुनो, कुछ सुनो भी तो !

**अक्काजी**–मैंने आपसे कहा न ! इस सम्बन्धमें मैं कोई वाद-विवाद, कोई तर्क-वितर्क करनेके लिये तैयार नहीं हूँ ।

**वल्लभाचार्य**–तुमने तो इतने शीघ्र मुझसे किसी वार्तालापका कभी अन्त नहीं किया । कुछ सुनो भी तो !

**अक्काजी**–सुन लेती हूँ, पर आप भी सुन लीजिये । आप एक बार, सौ बार, सहस्र बार, लक्ष बार, कोटि बार, असंख्य बार इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना हो कहते जाइये । मैं मूर्तिके सदृश सुनती जाऊँगी और यदि मेरा उत्तर माँगेंगे तो एक ही उत्तर दूँगी कि इस विषयमें मैं कोई वाद-विवाद, कोई तर्क-वितर्क करनेको प्रस्तुत नहीं । ( कुछ रुककर ) देखिये, मैं जीवनभर आपकी आज्ञानुगामिनी रही हूँ, मैं जानती हूँ कि धर्मशास्त्रके अनुसार इस सम्बन्धमें आपको मेरा आज्ञानुगामी होना होगा और मैं आपको संन्यास लेनेकी अनुमति कदापि-कदापि नहीं दूँगी ।

**वल्लभाचार्य**–इसे क्या स्त्री-हठका नाम दिया जाय ?

**अक्काजी**–जो नाम आपको देना हो, दीजिये !

**वल्लभाचार्य**–मैं तुम्हारी आज्ञाके बिना संन्यास ले नहीं सकता, यह तो सत्य है । परंतु···

**अक्काजी**–( बीचहीमें ) इसमें कृपाकर किंतु-परंतुको कोई स्थान न दीजिये ।

[ गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश । गोपीनाथकी अवस्था अब लगभग अठारह वर्ष और विट्ठलनाथकी अब लगभग चौदह वर्षकी हो गयी है । दोनों अब और भी सुन्दर दिखायी देते हैं । ]

**अक्काजी**–( गोपीनाथ और विट्ठलनाथको देख उन्हें अपने निकट बुला, वल्लभाचार्यसे ) आपने तीन-तीन पृथ्वी-परिक्रमाएँ कर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको भूमण्डलके हर नगर और ग्राममें पहुँचा दिया । श्रीनाथजीकी प्रतिष्ठा कर उस सम्प्रदायको मूर्तिमान्‌रूप दे दिया । सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुरक्षाके लिये ऐसी ग्रन्थ-रचना की, जो अद्वितीय कही जा सकती है । विवाह किया भगवदाज्ञासे योग्य उत्तराधिकारियोंके लिये, इन दोनों उत्तराधिकारियोंको पहले अपने सदृश बना दीजिये, तब संन्यासकी बात सोचियेगा ।

[ वल्लभाचार्य कोई उत्तर न दे सिर झुका लेते हैं । ]

( लघु यवनिका )

## दूसरा दृश्य

**स्थान**–अडैलमें वल्लभाचार्यकी बैठकका एक कक्ष ।

**समय**–रात्रि–[ वही कक्ष है जो चौथे अङ्कके पहले दृश्यमें था । रात्रिकी वार्ताकी तैयारी हो रही है । रजो एक छोटे-से काष्ठके सिंहासनपर श्रीनाथजीके चित्रको पुष्पमाला पहिना रही है । सिंहासनके सामने एक पाटेपर कपड़ेके बस्तेमें बँधी हुई पोथी रखी हुई है । रजो गा रही है । ]

विमल जस बृंदावन के चंद कौ ।
कहा प्रकास सोम सूरजको, जो मेरे गोविंद कौ॥
कहत जसोदा सखियन आगे, वैभव आनँदकंद कौ ।
खेलत फिरत गोप बालक सँग, ठाकुर परमानंद कौ॥

[ रंजोका गीत पूरा होते-होते गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश । गोपीनाथ पोथीके निकट बैठकर पोथी खोलते हैं । विट्ठलनाथ इनके निकट बैठ जाते हैं । वल्लभाचार्य और अक्काजीका प्रवेश । वे भी सिंहासनके निकट बैठ जाते हैं । गोपीनाथ वार्त्ता आरम्भ करते हैं । ]

**गोपीनाथ–**

**एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।**
**कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥**

एक समे सँग खेलत-खेलत कृष्ण सखा समुदाई ।
दाऊ सहित गापबालन ने माँ पै खबर जनाई॥
जसोदा तेरे लाला ने माटी खाई॥

तब लालाको हित चाहनवारी जसोदा मैयाने कृष्णको हाथ पकरिके डरपायो और डरपनमें भयसहित चंचल चितवनवारे नैन जाके, ऐसे कृष्ण तें जसोदा बोलीं—अरे चपल ! तैंने अकेलेमें जायके माटी क्यों खायी ? ये तेरे साथके खेलनवारे सगरे बालक कहत हैं। तेरो बड़ो मैया बल्देव हू कहत है । जो तैंने साँचे ही माटी नहीं खायी है तो अपनो मुख उघारके दिखाय दै । ऐसे जब कृष्ण सों कही तब हरि अपने नेंकसे मुखको उघारिके मैयाको दिखावत भये । जसोदाने कृष्णके मुखमें स्थावर-जंगम सभी जगत्को देख्यो तथा वाई मुखमें एक जसोदा हाथमें साँटी लेकर माटी खाइबो देख रही है, यह भी देख्यो । तब जसोदाको बड़ी शङ्का भई—

**अथो यथावन्न वितर्कगोचरं**
**चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।**
**यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते**
**सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥**

**वल्लभाचार्य–**

**अथो दर्शनानन्तरं यस्माद्भगवतः सकाशादेतत् प्रतीयते यत्सुदुर्विभाव्यम् अतः स अलौकिको भवति इति तत्पदं प्रणताऽस्मीति सम्बन्धः ।**

[ वल्लभाचार्यके उपर्युक्त वक्तव्यके पश्चात् वार्ता समाप्त हो जाती है । गोपीनाथ पोथी बाँधते हैं और सब लोग मिलकर कीर्तन करते हैं । ]

भजन बिन जीवत जैसे प्रेत ।
मन मलीन घर घर प्रति डोलत उदर भरन के हेत॥
कबहुँक पावत पाप को पइसा, गाड़ि धूरमें देत ।
सेवा नहिं गोविंद चंद को, भवन नील को खेत॥
मुख कटु बचन करत पर निंदा, संतन कूँ दुख देत ।
सूरदास बहुत कहा कहुँ, डूबे कुटुंब समेत ॥ भजन० ॥

[ गान पूर्ण होते-होते कक्षके एक ओर अग्नि लगती है । अग्नि शीघ्र ही फैलने लगती है । ]

**रजो–**( चिल्लाकर ) अरे, अग्नि······अग्नि ·····

**गोपीनाथ–**( घबराकर अग्निकी ओर देखकर ) हाँ, अग्नि ।

**विट्ठलनाथ–**( घबराकर अग्निकी ओर देखकर ) हाँ, हाँ !

**अक्काजी–**( घबराकर ) अरे, यह तो सारी बैठक जलायेगी । चलो बुझानेका प्रयत्न करें । ( वल्लभाचार्यसे ) आप तो घरसे बाहर निकलिये !

[ सब लोगोंका शीघ्रतासे प्रस्थान । ]

**वल्लभाचार्य–**( जाते-जाते ) यह योगकी बात है । भगवान्की इच्छा थी, मैं संन्यास लूँ, अक्काजीने मुझे घरसे बाहर जानेकी आज्ञा दे दी ।

**( लघु यवनिका )**

## तीसरा दृश्य

**स्थान–**काशीमें एक मन्दिरका आँगन ।

**समय–**संध्या ।

[ वही आँगन है, जो पहले अङ्कके दूसरे दृश्यमें था । आँगनमें बिछावनके ऊपर अनेक पण्डित बैठे हुए हैं । परंतु उस घटनाको इकतालीस वर्षका समय व्यतीत हो जानेके कारण उस समयके पण्डितोंमें बहुत थोड़े पण्डित इस समुदायमें दृष्टिगोचर होते हैं । फिर उस समय जो तरुण थे, वे अब वृद्ध हो गये हैं, अतः उन्हें पहचाना नहीं जा सकता । वेष-भूषा सबकी उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न ढंगकी है, जैसी उस समय थी । सारा दृश्य वैसा ही दिखता है, जैसा उस समय दीख पड़ता था । ]

**एक पण्डित–**स्मरण है, विद्वद्वरो ! लगभग इकतालीस वर्ष पूर्व मैंने वल्लभाचार्यके सम्बन्धमें यहाँ क्या कहा था और उसपर उस समयके यहाँके पण्डितवर्गने मेरा कैसा तिरस्कार किया था ।

**दूसरा–**उस समयके तो अब गिनतीके ही व्यक्ति बचे होंगे ।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) हम तो उस समय विद्यार्थी थे।

तीसरा—आपके सदृश मैं भी उस समय युवावस्थामें था, मुझे उस दिनकी घटनाकी सब बातें अच्छी तरह स्मरण हैं।

चौथा—मैं भी उस समय था, मेरी भी युवावस्था ही थी। पर उस घटनाकी मुझे धुँधली-धुँधली-सी ही स्मृति है।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) इकतालीस वर्षका बड़ा लम्बा समय होता है।

चौथा—परंतु उसके पश्चात् जब वे फिर एक बार काशी पधारे थे और श्रीविश्वनाथके मन्दिरपर पत्रावलम्बन पत्र चिपका-चिपकाकर शास्त्रार्थ करते थे, उस समयका मुझे भलीभाँति स्मरण है।

पाँचवाँ—उसका तो कई लोगोंको स्मरण होगा।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) कईको।

पहला—पर मुझे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही वल्लभाचार्यमें न जाने कैसे कुछ अलौकिक प्रतिभा दिखायी देती थी।

तीसरा—इसीलिये आपने कहा था कि यहाँका पण्डित-वर्ग उनके साथ अन्याय कर रहा है।

पहला—परंतु उनमें प्रतिभा देखने और पण्डितोंके व्यवहारको अन्यायपूर्ण माननेपर भी उस समय मेरा भी साहस उनका साथ देनेका नहीं हुआ।

पाँचवाँ—मानव अपने समुदायसे विलग हो क्वचित् ही रह सकता है।

चौथा—और पत्रावलम्बनके शास्त्रार्थके समय भी यहाँके अधिकांश पण्डितोंने उनके साथ अन्याय ही किया था।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) इसमें संदेह नहीं।

पहला—परंतु, विद्वद्वर ! अब तो उनकी विद्वत्ता, उनके चरित्र, उनके कार्य सबने सिद्ध कर दिया कि वे इस कालके अद्वितीय अवतारी पुरुष हैं।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) अवश्य, अवश्य।

पहला—अब भी क्या इस विषयमें कोई मतभेद है।

सारा समुदाय—( एक साथ ) थोड़ा भी नहीं, थोड़ा भी नहीं।

पहला—वर्णाश्रमधर्मका अद्भुत पालन किया उन्होंने !

तीसरा—और उस पालनमें कितनी उदारता रही।

पहला—इसलिये कि उन्होंने वर्णाश्रमधर्मको सच्चे रूपमें समझा है।

तीसरा—यह कदाचित् इसलिये कि उनके सारे कार्य भगवत्-आज्ञासे होते हैं।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) हाँ, यह भी सुना जाता है।

पहला—अब सुना, भगवदादेश हुआ है, स्वधाम लौटनेका ! इसीलिये अन्तिम आश्रम संन्यास ग्रहणकर मोक्षदायिनी काशीमें महाप्रस्थानके लिये पधारे हैं।

तीसरा—ओह ! उनके इस महाप्रस्थानके पश्चात् इस समयकी, इस जगत्की ज्योति ही चली जायगी और एक बार तो समस्त सृष्टिमें अन्धकार हो जायगा।

कुछ पण्डित—( एक साथ ) इसमें संदेह नहीं, इसमें संदेह नहीं।

पहला—पधार ही रहे होंगे इसीलिये आज यहाँ पधराया है कि नयनभर-भर दर्शन तो कर लें। वाणी तो अब श्रवण करनेको मिलेगी नहीं, क्योंकि अखण्ड मौन है।

तीसरा—हाँ, इस सम्बन्धमें काशी बड़ी अभागिनी रही, पहले उनका तिरस्कार किया, फिर पधारे तो शास्त्रार्थ हुआ पत्रावलम्बनद्वारा और अब पधारे तो मौन हैं।

[ वल्लभाचार्यका प्रवेश। अब वे संन्यासीके वेशमें हैं। परंतु उन्होंने त्रिदण्ड संन्यास लिया है, इसलिये शिखा-सूत्रका त्याग नहीं हुआ है। गेरुए रंगकी कौपीन धारण किये हैं, एक हाथमें दण्ड है और दूसरेमें कमण्डलु। इन्हें देखते ही सारा पण्डित-समुदाय उठकर अत्यन्त श्रद्धासे दण्डवत् करता है। वल्लभाचार्य मुसकराते हुए मस्तक झुका इस दण्डवत्का उत्तर देते हैं। वे बैठ जाते हैं और दण्ड, कमण्डलु अपने पास रख लेते हैं। उनके पीछे-पीछे गोपीनाथ, विट्ठलनाथ, दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, जादवेन्द्रदास कुम्हार, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास आते हैं। ये लोग भी बैठ जाते हैं। वल्लभाचार्य दोनों हाथोंसे अपने साथियोंकी ओर संकेत करते हैं और पण्डित-समुदायकी ओर देखते हैं। ]

पहला—आचार्यवर कदाचित् इस बातपर आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं कि उनके ये दोनों पुत्र और समस्त साथी भी काशी पहुँच गये !

[ वल्लभाचार्य सिर हिला स्वीकारात्मक संकेत करते हैं। ]

दामोदरदास हरसानी—ऐसे समय भी हम सब न पहुँचें, यह कैसे सम्भव है !

**सूरदास**—हाँ, एक ही व्यक्ति नहीं पहुँच सके, कुम्भनदासजी, क्योंकि वे तो पलमात्रको भी श्रीनाथजीसे विलग रह नहीं सकते ।

**पहला**—महाप्रभु ! आपने तो सब कुछ कर डाला । पीछे-के लिये कुछ आज्ञा न देंगे ।

[ वल्लभाचार्य संकेतसे कागज, कलम, दावात माँगते हैं । एक व्यक्ति जाकर तीनों वस्तुएँ ला वल्लभाचार्यके सम्मुख रखता है । वल्लभाचाय कागजपर लिखते हैं । सारा समुदाय एकटक आतुरता-से उनकी ओर देखता है । वल्लभाचार्य लिखनेके पश्चात् उस कागज-को पहले पण्डितको देते हैं, वे पहले उसे ध्यानपूर्वक मनमें पढ़ते हैं और फिर उच्च स्वरसे ]

यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन ।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत ॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम ।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ॥
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा ।
सेव्यः स एव गोपीशो विधास्यत्यखिलं दिनः ॥
मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे ।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित् ॥

[ सारा उपस्थित समुदाय अत्यधिक ध्यान और तल्लीनतासे स्तम्भित-सा होकर इन श्लोकोंको सुनता है । इसके पश्चात् भी कुछ देर निस्तब्धता रहती है । ]

**पहला**—हम काशीनिवासी बड़े मन्दभागी हैं कि सारे भूमण्डलने तो आचार्य महाप्रभुकी वाणी सुनी, पर हम इससे वञ्चित रह गये । परंतु, एक बातके कारण हम फिर भी सौभाग्यशाली हैं कि इस प्रसंगपर महात्मा सूरदासजी यहाँ पधार आये हैं, यदि उनका एक कीर्तन हमें सुननेको मिल जाय ।

**सारा समुदाय**—( एक साथ ) अवश्य, अवश्य ।

[ वल्लभाचाय संकेतसे दामोदरदास हरसानीको सूरदासको कीर्तन करनेके लिये कहते हैं । ]

**दामोदरदास हरसानी**—( सूरदाससे ) सूरदासजी ! आचार्य महाप्रभुकी इच्छा है कि इस पण्डित-समाजको आप एक कीर्तन सुनायें ।

[ सूरदासजी गान आरम्भ करते हैं । ]

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अंधेरो ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो ॥
सूर कहा कहि दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥

**( यवनिका )**

## उपसंहार

**स्थान**—काशीमें गङ्गाका हनुमानघाट ।

**समय**—मध्याह्न ।

[ गङ्गाका प्रवाह रविरश्मियोंमें चमक रहा है । अपार जन-समुदाय एकत्रित है । परंतु, इतना अधिक जनसमुदाय होनेपर भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता, एक विचित्र प्रकारकी निस्तब्धता छायी हुई है । वल्लभाचार्य आते हैं । उनका गङ्गामें प्रवेश, वे गङ्गाके बहावपर चलते हुए दिखायी पड़ते हैं । कुछ ही देरमें उनके चारों ओर पानीपर उसी प्रकारका अग्निकुण्ड-सा दिखता है, जैसा नाटकके उपक्रममें चम्पारण्यमें उनके जन्मके समय उनके चारों ओर दिख रहा था । थोड़ी ही देरमें उनका शरीर अदृश्य हो जाता है और यह अग्निकुण्ड सिमटकर एक प्रज्वलित प्रकाश आकाशकी ओर चला जाता है । ]

**( यवनिका )**

**समाप्त**

## गूँगेका गुड़

जाको मन लाग्यो नन्दलालहि, ताहि और नहिं भावै हो ।
ज्यों गूँगो गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै हो ॥
जैसे सरिता मिलै सिंधु कौं बहुरि प्रवाह न आवै हो ।
ऐसे सूर कमललोचन तैं चित नहिं अनत डुलावै हो ॥

—सूरदासजी

# वैदिक-उपासना-विमर्श

( लेखक—पं० श्रीबेचू मिश्रजी शास्त्री, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० )

मनुष्य कामनामय प्राणी है। किसी कामनाकी सिद्धिके लिये मनुष्यको ज्ञान, बल तथा क्रियाशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है और बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वोक्त शक्तियोंको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं तथा अपनी-अपनी रुचि, क्षमता और सुविधाके अनुसार भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्राप्त करते हैं। अतः शक्ति-संचयकी चेष्टा अथवा शक्ति-उपासना मनुष्यमात्रकी सहज प्रकृति तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्रश्न है कि किस प्रकारसे शक्ति-उपासना करनी चाहिये कि जिससे जीवनमें सफलता मिले।

'उपासना' शब्द उप अर्थात् समीप तथा आसना अर्थात् स्थितिनिष्ठाके योगसे बनता है। अब विचारणीय है कि किसके समीप स्थितिकी निष्ठा अथवा संयुक्त रहनेकी वासना प्राणिमात्रमें स्वभावतः प्रबल होती है? इस प्रश्नका केवल तथा प्रायः सर्वसम्मत उत्तर यही मिलेगा कि माताकी समीपस्थिति-निष्ठा प्रथमतः अत्यन्त प्रबल प्राणिमात्रमें पायी जाती है। यह बिल्कुल स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्राणिमात्रका शरीर माताके शरीरसे बनता है तथा प्राणिमात्रकी सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट कामना क्षुधाशान्तिकी पूर्ति प्रथमतः मातासे ही होती है। इन कारणोंसे मानवमें मातामें सहज निष्ठा, श्रद्धा-भक्ति इतनी प्रगाढ़ होती है कि शैशवावस्थामें माता अपने पुत्रको जिस पुरुषका सम्बोधन पितारूपसे बताती है, शिशु उसी पुरुषको अपना पिता मानता तथा जानता है तथा उसी पुरुषमें आजन्म श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-निष्ठ आदरणीय भाव रखता है; क्योंकि पिताके परिचय-से ही मनुष्यको अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है। मानवदेहका निर्माण माताके शरीरसे ही प्रथमतः होता है, इसी कारण मनुष्य ललनाओंके सौन्दर्य-माधुर्य, स्वर-माधुर्य तथा व्यवहार-माधुर्यसे आजन्म आकर्षित, मनोरञ्जित तथा प्रभावित होता है। इन्हीं तथ्योंको ध्यानस्थ रखकर सृष्टिकालारम्भसे ही मनीषीलोग शक्ति-उपासना मातारूपमें ही करते आये हैं; क्योंकि व्यक्ति-विशेषकी तरह समस्त चराचरमय ब्रह्माण्डका भी जन्म माता या शक्तिके ही गर्भसे होता है, जो शक्ति अपनी गोदमें ब्रह्माण्डको धारण करती है तथा अपनेमें ही ब्रह्माण्डको विलीन भी कर लेती है। इसीलिये वेदमें विधान है कि 'अहरहः संध्यामुपासीत' नित्य, प्रतिदिन संध्योपासना करनी चाहिये। यह विधान द्विजोंके लिये अनिवार्य रक्खा गया है।

संध्योपासनाकी उपयोगिता, उपादेयता तथा अनिवार्यता हृदयंगम करनेके लिये हमें इस बातपर ध्यान देना पड़ेगा कि प्राकृत मनुष्यकी बुद्धि स्वभावतः भ्रान्तिपूर्ण तथा विषयगोचर होती है तथा मन कामना-भिभूत होता है, जिसके कारण मनुष्यका मन रात-दिन विषयोंके दर्शन, अन्वेषण, स्मरण, चिन्तन तथा आलोचनमें ही लगा रहता है। फलतः उसकी बुद्धि धीरे-धीरे संकुचित होकर उसको पूर्णतः स्वार्थान्ध बना देती है। जिससे देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी वैयक्तिक स्थितिको ध्यानमें रखकर धर्म, कर्म तथा व्यवहार करनेकी धीरता, क्षमता तथा समझ मनुष्यमें नहीं रह जाती तथा जीवनपर्यन्त उसका मन चञ्चल, अशान्त, व्यग्र तथा दुखी बना रहता है। फलतः मनुष्यके बल-वीर्य तथा आयुकी हानि होती है। इतना ही नहीं, उक्त मानसिक परिस्थितिमें मनुष्य प्रत्येक पदार्थका मूल्याङ्कन अपने विशिष्ट स्वार्थ तथा संकुचित दृष्टिसे करता है। स्वार्थ तथा दृष्टिकोणमें विभिन्नता होनेके कारण मनुष्योंमें एक ही पदार्थके विषयमें अनेक मत हो जाते हैं, जिनके कारण मनुष्योंमें पारस्परिक कलह, दुराव, फूट, वैर

वैमनस्य, विद्वेष तथा प्रतिस्पर्धा आदि अनेक तथा अनन्त अनर्थकारी समाज-विरोधी दोषोंका प्रादुर्भाव तथा प्राबल्य हो जाता है और मानवसमाज विघटित होकर नरक या क्षुद्र मनुष्योंका समूह हो जाता है । जिनके जीवनमें कलहप्रियता पशुओंकी तरह स्वच्छन्द रूपसे क्रीडन करती है । सुचित्त विवेचनसे ज्ञात होगा कि विविध कामनाओंके कारण मनकी अनेकरसता ही मानसिक चञ्चलताका मूल है तथा मानसिक चञ्चलता ही दुःखभावनाका मूल है । इसीलिये प्राकृत मनुष्य साधारणतः निद्रितावस्थामें ही जब मन पूर्णतः शान्त तथा निष्क्रिय रहता है, पूर्ण सुखानुभूति पाता है । इस विषम परिस्थितिसे समाज तथा मनुष्यके रक्षण-के लिये कामनाभिभूत मानव-मनकी अनेकरसताको दबाकर मनको एकरसमें लीन करनेके लिये ही संध्यो-पासनाका अनिवार्य विधान है ।

आचमन, प्राणायाम, मार्जन, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जप संध्योपासनाके प्रधान अङ्ग हैं । संसार नश्वर है—इस बातका सतत स्मरण हमें तभी रह सकता है जब कि हमारा शरीर तथा मन पवित्र हो । इस गूढ़ विषयको हृदयंगम करानेके लिये आचमनका विधान है । इस शरीरका संचालक प्राण है । प्राणोंकी चञ्चलता तथा उद्विग्नतासे श्वास-प्रश्वासकी गति तीव्र हो जाती है, मन अशान्त हो जाता है, जिससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है । किंतु विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे प्राण गम्भीर होने लगता है, मन शान्त तथा स्थिर होने लगता है, श्वास-प्रश्वासकी गति संतुलित हो जाती है, जिससे मनुष्य दीर्घायु होता है—इसलिये प्राणायामका विधान है । जल जीवनाधार तथा तृष्णा-शामक है—आत्मशक्ति वा नारायणका प्रत्यक्ष स्वरूप है, शुद्धिका सर्वप्रधान साधन है । जलकी पवित्रताकी तारतम्यताके अनुसार मनुष्यके बल, बुद्धि, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आयुमें वृद्धि वा ह्रास हो सकता है । अतः जलकी पवित्रताके महत्त्वको हृदयंगम करानेके लिये मार्जनका विधान है । सूर्यदेव ही सब जीवोंके पोषक, व्यवहारके संचालक तथा आत्मशक्तिके द्योतक हैं, इनमें श्रद्धा रखकर इनका नमस्कार करनेसे मनुष्य कालचक्रके भँवरसे भी पूर्णतः शान्त तथा स्वस्थ रह सकता है, इसलिये सूर्योपस्थान-का विधान है ।

संध्योपासना मुख्यतः पराजननी संध्यामाता एवं आत्मशक्तिकी उपासना है । आत्मशक्तिके स्वरूप तथा प्रकृष्ट विकासका प्रत्यक्ष दर्शन सूर्यमण्डलमें होता है, अतः गायत्री-जपके समय आत्मशक्तिका ध्यान हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें करते हुए यह प्रार्थना की जाती है कि समस्त विश्वकी नियामक, प्रेरक, संचालक तथा नियन्त्रण-कर्त्री आत्मशक्तिके प्रेरणानुसार मेरी बुद्धि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-सम्बन्धी कार्योंमें लगी रहे । अर्थात् मेरी बुद्धि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'में परिनिष्ठित हो । ऐसा चिन्तन करते-करते ज्यों-ज्यों मनुष्यकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धिकी भ्रान्ति, जडता, संकोच, विवेकहीनता धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है और मनुष्यमें सद्विचार तथा विवेकका उदय होता है । तब मनुष्यको सूझने लगता है कि यथार्थ सुखकी केन्द्र तथा जननी आत्मशक्ति ही है, जो समस्त चराचर विश्व तथा सब मनुष्योंमें एक ही है, जिसके आश्रयसे मनुष्य अपने प्रारब्ध तथा भाग्यको भी देशकालानुसार बदल सकता है । वह करुणामृतसागर है । सबके हृदयमें चेतना, आनन्द, ज्योति, वाणी, तुष्टि, धैर्य, पुष्टि आदि रूपोंमें वर्तमान है । अपने ज्ञान, ध्यान तथा सम्मानसे प्रसन्न होकर वह मनुष्यमें बुद्धिरूपसे प्रतिष्ठित होकर मनुष्यको सांसारिक सुखके साथ आत्मसाक्षात्कार कराकर जीवन सफल बना सकती है, अतः बुद्धिमान् मनुष्यको आत्म-शक्तिको ध्यानमें रखकर सब काम करना चाहिये । यही बुद्धियोग वा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको अपनी क्रियाकी प्रतिक्रियापर ध्यान रखते हुए सब काम

करनेको प्रेरित करती है, जिससे मनुष्य इस विचारके साथ अपनी जीवनयात्रा करता है कि उसके 'जीवनसे किसी सज्जनके जीवनमें बाधा न हो, उसकी सुख-प्रवृत्ति तथा सुखसाधनसे किसी दूसरे सज्जनको दुःख न हो, उसके ज्ञानसे किसी सज्जनकी हानि न हो, उसकी स्वतन्त्रतासे किसी सज्जनकी स्वतन्त्रताका अपहरण न हो और उसकी प्रभुता तथा प्रभुत्वाकाङ्क्षासे किसी सज्जनको कष्ट न हो। यही मानव-धर्म है। तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—जो अपनेको अप्रिय हो वह दूसरेको भी अप्रिय होगा—इस बुद्धिसे सब काम करना ही वैदिक संस्कृति, कर्मयोग तथा धर्मका मौलिक तत्त्व है।

अतः वैदिक संस्कृति, धर्म तथा कर्मयोगके मुख्य आधार बुद्धियोगकी धात्री संध्योपासना है, जो सब वैदिक धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत, जप-तप, भोग-मोक्ष, पूजा-पाठ तथा सेवा-उपासनाका मूलाधार है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको संध्यामाताकी गोदमें बैठकर कम-से-कम सायं-प्रातः तो अवश्य विधिपूर्वक आचमन, प्राणायाम, मार्जन तथा सूर्योपस्थान करके आत्मशक्तिका चिन्तन अपने हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें अधिक-से-अधिक कालतक करके कल्याणकामना करनी चाहिये।

इस चिन्तनका फल यह होगा कि मनुष्यकी बुद्धि धीरे-धीरे इस भावनासे ओतप्रोत हो जायगी कि मेरे (सबके) हृदयमें आत्मशक्ति या ईश्वरका वास है और अपने कर्ममात्रसे हृदयमें स्थित आत्मशक्ति या ईश्वरकी पूजा करनेमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है। इसके अतिरिक्त आत्मशक्ति या सत्यकी शाश्वतता तथा देह और सांसारिक पदार्थोंकी नश्वरताका विवेक, ज्ञान, ध्यान तथा विश्वास मनुष्यके अन्तःकरणमें मनकी शुद्धि या बुद्धिकी आत्मनिष्ठताके तारतम्यतानुसार बढ़ता जायगा। श्रद्धा तथा विश्वासकी प्रगाढ़ताके साथ-साथ मनुष्यको योगस्थ रहकर शुचितापूर्वक इन्द्रियनिग्रहके साथ सत्य, अहिंसा तथा अस्तेयका पालन करते हुए कर्म करनेमें प्रोत्साहन तथा आनन्द मिलेगा। तब मनुष्यका जीवन सफल होगा तथा मनुष्य सुखी और दीर्घायु होगा।

सारांश यह कि जबतक मनुष्य पशुओंकी तरह अपनी आत्मशक्तिको भूलकर देहको ही सब कुछ समझता है, तबतक वह भ्रान्तिरूपा शक्तिसे संचालित होता है और उसके सब काम, विचार, बुद्धि, बल तथा योजनाएँ अनर्थकारी तथा समाज-विघटनकारी होती हैं। किंतु संध्योपासनाद्वारा ज्यों-ज्यों मनुष्य आत्मशक्तिके अभिमुख होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने भाव, विश्वास, श्रद्धा, भक्ति तथा उपासनाके प्रौढतानुसार बुद्धिरूप शक्तिसे संचालित होने लगता है और तब उसके कर्ममात्रसे अपना तथा मानवमात्रका कल्याण होता है। उपासनाका सनातन तथा लाखों वर्षका अनुभूत तत्त्व, महत्त्व तथा माहात्म्य यही है। जिसके प्रचार तथा रक्षणके लिये भारतमें जन्मना वर्णव्यवस्थाका दैवी विधान है, जिसके अनुसार ब्राह्मणको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा विद्यादान, क्षत्रियको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा अभयदान, वैश्यको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा सर्वपोषणके लिये अर्थसंग्रह चाहिये तथा शूद्रको तपरूपसे सार्वजनीन सेवा करके राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। शास्त्रोंके पठन तथा अनुशीलनसे यह स्पष्ट है कि जबतक हिंदू जनता पूर्वोक्त वैदिक सदाचारका पालन शुद्ध भावसे करती है, तबतक भारत सुखसमृद्धिपूर्ण तथा विश्ववन्द्य रहता है, अन्यथा भारतका पतन होता है।

# संतानका सुख—एक मृगतृष्णा

( लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए० )

( १ )

एक सज्जन पूछते हैं, 'मेरे कोई भी संतान नहीं है। वर्षोंसे मैं यह कामना कर रहा हूँ कि मेरे संतान हो तथा मैं संतानका सुखलाभ करूँ, किंतु मेरा दुर्भाग्य है कि अभी-तक मेरे संतान उत्पन्न नहीं हुई है। प्रौढावस्था आ गयी है अतः अब संतानकी आशा भी नहीं है। सोचता हूँ, किसी पुत्रको गोद ले लूँ और किसीकी कन्याके दानका माहात्म्य ले लूँ। पुत्रको गोद लेनेके विषयमें अपनी सम्मति दीजिये।'

संतानकी कामना प्रत्येक प्राणीमें एक सहज स्वाभाविक स्वयम्भू वृत्ति (Instinct) है। प्रकृतिकी सृष्टि-संचालनके लिये यह एक गुप्त योजना है। प्रत्येक प्राणीके हृदयमें संतानकी कामना, उत्पत्तिके साधन, पालन-पोषणके उपकरण स्वयं प्रकृति उपस्थित कर देती है। प्रकृतिका विधान कुछ ऐसा है कि अनेक दुःखों और कष्टोंके होते हुए भी प्राणिमात्र संतानके लालन-पालनमें एक गुप्त सुखका अनुभव करता है। मादा जातिके समस्त जीवोंको संतानोत्पत्तिमें असीम शारीरिक कष्टोंका अनुभव करना पड़ता है, वे इस पीड़ासे बड़ी पीड़ा नहीं जानतीं, किंतु फिर भी प्रकृतिका ऐसा विधान है कि तीन-चार वर्षमें नव शिशुको जन्म मिलता ही जाता है। हम संतानको जन्म देकर वास्तवमें प्रकृतिके सृष्टिसंचालनके गुप्त विधानको ही पूर्ण किया करते हैं। प्रकृतिद्वारा दी हुई वासनाके हाथोंमें हम खिलौनामात्र बन जाते हैं। विषयभोग और पापकी इच्छाएँ पशु और मनुष्य सबको पागल बनाकर हमें संतानकी ममता, नाना प्रकारकी तृष्णाओं, संसारके मोहमें फँसा देती हैं और हम आजन्म संतानको संसारमें जमाने—जीविका उपार्जन-योग्य बनानेमें ही समाप्त कर देते हैं। हममेंसे नब्बे प्रतिशत व्यक्तियोंका जीवन केवल संतानोत्पत्ति एवं उसकी देख-रेखमें, क्षुद्र स्वार्थोंकी पूर्ति और झूठ-फरेबमें व्यतीत हो जाता है। अतः विषयवासना, नारी और संतानके झूठे सुखकी तृप्तिसे हमें सावधान हो जाना चाहिये—

स्वामी शङ्कराचार्यने एक श्लोकमें गहरे अनुभवोंका निचोड़ उपस्थित कर दिया है।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः॥

अर्थात् 'शास्त्रका खूब अध्ययन करके जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ है, वह मनुष्य पशुओंसे भी बढ़कर पशु है। नारी वह विष है, जो अमृत-सा जान पड़ता है। पुत्र आदि वे शत्रु हैं, जो मित्र-से लगते हैं।

विषयवासनाको अनियन्त्रित छोड़ देनेसे मनुष्य भोगेच्छासे नारीकी ओर आकृष्ट होता है। फिर संतान हो जानेपर उधरसे हटकर बच्चोंके पालन-पोषणमें लग जाता है और अन्ततक यही करते-करते मृत्युका ग्रास बनता है। जीवनमें कोई उच्च कार्य, आत्मचिन्तन या परोपकार नहीं कर पाता।

कौन-सा वह सुख है जिसकी झूठी तृष्णा छोड़ देनेसे हम सांसारिक दुःखोंसे बच सकते हैं? यह सुख है स्त्री, पुत्र, धन और मान—इसीसे धनैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणामें हम लगे रहते हैं, वस्तुतः यह सुख नहीं है, दुःख ही है।

तात्पर्य यह है कि इस माया-मोहरूपी संसारमें धन, स्त्री, पुत्र-पुत्री आदि पदार्थोंके मोहके कारण ही मनुष्य विशेषरूपसे बन्धनमें रहता है। अतः इनसे वैराग्य धारण करने और इनकी ओर चित्तवृत्तियोंको न भटकने देनेमें ही कल्याण है। जो व्यक्ति संतानवाले हैं, उन्हें तो अपने कर्त्तव्यका पालन करना ही चाहिये, किंतु जो निःसंतान हैं, उन्हें व्यर्थ ही चिन्तित नहीं होना चाहिये। कारण, संतानसे सुखकी आशा रखना या यह समझना कि बिना संतान हमें आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों ही गलत विचारधाराएँ हैं। अनेक व्यक्ति संतानवान् होकर भी नयी-नयी चिन्ताओं और नवीन समस्याओंमें फँसे रहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो संतानकी इच्छा न कर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

( २ )

एक विद्वान्के मतानुसार संतान-सुखके निम्न मनोवैज्ञानिक कारण हैं, 'पिता मनमें एक गौरवका अनुभव करता है। इस गौरवसे मनुष्यके मनमें रहनेवाली बड़प्पनकी गुप्त इच्छा तृप्त होती है। बड़े होनेपर यह बालक मेरा नाम चलावेगा, मेरे रिक्त स्थानकी पूर्ति करेगा, मेरी सेवा करेगा तथा

वृद्धावस्था, बीमारी आदिमें सहारा देगा, घरको सुख-सम्पन्न बनावेगा—ऐसी अनेक आशाएँ पिता अपने बालकसे करते हैं।'

दूसरा कारण यह है कि बालकके माध्यममें मनुष्य स्वयं अपनी गुप्त अतृप्त इच्छाएँ पूर्ण करना चाहता है। अपने जीवनमें जो-जो इच्छाएँ स्वयं मनुष्य पूर्ण नहीं कर पाता, उन अतृप्त इच्छाओंको अपने पुत्र-पुत्रीके माध्यमसे पूर्ण होता देखना चाहता है। जो व्यक्ति स्वयं आयुपर्यन्त निर्धन रहे, वे अपने पुत्रसे यह आशा करते हैं कि वह उन्हें पर्याप्त धन संचय करके ऐश-आरामके साधन प्रदान करेगा। जो शारीरिक दृष्टिसे स्वयं दुर्बल रहे हैं, वे अपने पुत्रको पहलवान देखना चाहते हैं। स्वयं कुरूप पत्नी पानेवाले सुन्दर-से-सुन्दर पुत्रवधूकी कामना करते हैं। विगत बाल्यावस्थाको बच्चोंके द्वारा हम स्वयं भोगना चाहते हैं। अपने अधूरे कार्यों, आदर्शों, इच्छाओं, आशाओंको पिता पुत्रद्वारा पूरा होता हुआ देखना चाहता है। हमें जीवनमें जो असफलताएँ मिली हैं, उन्हें हम पुत्रद्वारा सफलतामें परिणत हुआ देखना चाहते हैं। निष्कर्ष यह है कि संतानरूपी माध्यम हमारी कल्पनाओंका आधार रहता है। इन इच्छाओंकी पूर्ति पुत्रीकी अपेक्षा पुत्रद्वारा अधिक होती है। इसलिये मनुष्य पुत्रकी कामना अधिक करता है। समाजकी व्यवस्था कुछ ऐसी हो गयी है कि पुत्र होना यश, प्रतिष्ठा और सौभाग्यका चिह्न समझा जाने लगा है।

प्रश्न है कि क्या उपर्युक्त इच्छाओंकी पूर्ति स्वयं अपने ही बच्चोंद्वारा हो सकती है? उत्तरमें हम कहेंगे कि यह गलत धारणा है। ये इच्छाएँ तो दूसरोंके बच्चोंद्वारा भी पूर्ण हो सकती हैं।

मनुष्यमें एक बड़ी निर्बलता है जिसे मोह कहते हैं। मोहके वश हम उन वस्तुओंको अधिक चाहते हैं, जिनके साथ अपनत्वकी भावना निहित होती है। अपना मकान, अपनी जायदाद, अपना बाग, अपनी वस्तुएँ मोहवश हमें अच्छी लगती हैं। अपनापन तृष्णाका पिता है। अधिक और अधिककी कभी न पूर्ण होनेवाली तृष्णा ही हमारे दुःखोंका मूल है। इसीके कारण हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओंका संग्रह कर लेते हैं, जो निरर्थक हैं। संतानकी तृष्णा भी इन्हींमेंसे एक अतृप्त कल्पित इच्छा है। अनेक निरर्थक भ्रमोंकी तरह यह भी एक निरर्थक इच्छा है। जो संतानहीन हैं, उन्हें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। आइये, संतानसे होनेवाले लाभोंपर विस्तारसे विचार करें।

( ३ )

आप चाहते हैं कि वृद्धावस्थामें आप पुत्रकी कमाई खायेंगे। वह आपके गौरवकी वृद्धि करेगा। पुत्रको जन्म देना एक बात है; किंतु शिक्षा, सद्व्यवहार और शिष्ट नागरिक बनना दूसरी बात है। आजके नब्बे प्रतिशत युवक 'सपूत' शब्दके अधिकारी नहीं होते। आप किसी स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालयमें निकल जाइये और अध्यापकोंसे बातचीत कीजिये तो वे आपको उन असंख्य शरारतों और कुटेवोंके विषयमें बतायेंगे, जिनसे उन्हें नित्य निपटना पड़ता है। आजकलका युवक प्रायः उत्तरदायित्वहीन, उद्दण्ड, अनुशासनहीन, अशिष्ट, मिथ्या दम्भसे भरा जा रहा है। उसे जीवनकी अड़चनों तथा कठिनाइयोंसे युद्ध करनेकी चिन्ता नहीं। वह आयुपर्यन्त पिताके ऊपर भार बना रहना चाहता है। उसमें आर्थिक दृष्टिसे अपने पाँवोंपर खड़े होनेकी शक्ति नहीं आती। यौवनके अनिष्टकारी उन्मादमें आजकलके उद्दण्ड लड़के वृद्ध पिताकी मुसीबतोंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते; उन्हें दूर करना तो बहुत आगेकी बात है। अनेक स्थानोंपर अशिष्ट पुत्र पिताका प्रत्यक्ष अपमानतक करते देखे जाते हैं। पिता प्रायः पुराने विचारके होते हैं और संतान नयी रोशनीमें पलती है। दोनोंके विचार तथा आदर्श मेल नहीं खाते और संघर्ष बढ़ता जाता है। इस तनातनीमें पिता-पुत्र और भाई-भाईके व्यवहारोंमें तनातनी और पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ते जाते हैं। एक दूसरेके अपमानके अनेक अवसर आ उपस्थित होते हैं, जिनमें बेचारे पिताको मुँहकी खानी पड़ती है और वह उस दिनको कोसता है, जब उसके घरमें उस पुत्रका जन्म हुआ था।

उदाहरणके रूपमें हम दो-चार घटनाएँ यहाँ वर्णन कर रहे हैं। ये बिल्कुल सत्य हैं। एक ब्राह्मणपरिवारके अति सुशिक्षित पिताके बड़े पुत्र डाक्टरीकी उच्चतम डिग्री लेकर आये। पिताका प्यार-दुलार उन्हें खूब मिला। उनकी पढ़ाईमें अनाप-शनाप व्यय हुआ। पिता प्रसन्न थे और चाहते थे कि किसी उच्च ब्राह्मणकुलमें उनका विवाह-सम्बन्ध कर दें किंतु नयी रोशनीके पुत्र महोदयने एक ईसाई नर्स, जिसके दो पुत्रियाँ पहलेसे ही थीं, उससे गुप्त विवाह कर लिया। उस महिलाके पतिको दो हजार रुपया देकर तलाक दिलाया

और कानूनी रूपमें विवाह किया । यह सब सुनकर पिताने सिर पीट लिया और कभी पुत्रका कलङ्कित मुँह न देखनेका प्रण किया ।

लूट-मार-हत्या आदिके अनेक मामलोंमें आजकल लड़के लिप्त पाये जाते हैं। आये दिन छोटे-बड़े अनेक झगड़े होते रहते हैं, जिनमें अनुशासनहीन लड़कोंका प्रमुख हाथ रहता है।

लड़कोंकी टीपटाप, बाहरी दिखावा, फैशन, शृंगार और व्यय तो इतना बढ़ गया है कि बेचारे पिताको पढ़ाते-पढ़ाते ही अपना घर-बार और बहुमूल्य वस्तुएँ बेच देनी पड़ती हैं। सिग्रेट, पान, सिनेमा इत्यादिका व्यय ही पूरा नहीं हो पाता । अतः कमाऊ पूतकी आशा रखना एक मृगतृष्णा ही है । जिसे बुढ़ापेका सहारा समझा जाता है, वह पुत्र कमरपर सवारी करनेवाला शत्रु बन जाता है ।

इलाहाबाद-निवासी हमारे एक परिचित मित्रने बड़े आर्थिक कष्टोंसे अपने पुत्रको बी० ए० पास कराया । लड़का प्रथम श्रेणीमें पास हुआ और उन्होंने बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे, पर न जाने आधुनिक दूषित वातावरणने उसपर क्या प्रभाव डाला कि वह विवाह कर पितासे पृथक् हो गया और उनसे कोई सम्बन्ध न रक्खा । वे प्रायः कहा करते हैं कि यदि वह धन, जो मैंने पुत्रकी शिक्षापर व्यय किया है, मैं न करता, तो मज़ेमें वृद्धावस्थाकी गुजर-बसर कर सकता था ।

एक अमीर व्यक्तिके पुत्र है, पर बड़ा क्रोधी और पागल । वे उसकी मानसिक चिकित्सा कराते-कराते परेशान हो गये हैं । जो कुछ था, सब चिकित्सामें व्यय हो गया है और फिर भी मूर्ख पुत्र समझता है कि पिता उसे पर्याप्त धन नहीं देता है । वह इस प्रतीक्षामें रहता है कि कब बुड्ढा बाप मरे, कब उसे संचित पूँजी प्राप्त हो ।

जो व्यक्ति संचित पूँजी या ज़मीन-जायदाद इत्यादि पुत्रके लिये छोड़ जाते हैं, उन्हें फ़जूलखर्च संतान व्यर्थ ही अपव्यय और झूठी शानमें व्यय कर देती है। जितना ही व्यक्ति अमीर होता है, उसकी संतान प्रायः उतनी ही फजूलखर्च, निकम्मी, दुश्चरित्र और बेकार निकलती है । उनके मरते ही संतान पुरानी यश-प्रतिष्ठा दो कौड़ीकी कर देता है ।

पहले संतानकी इच्छा, संतान मिलनेपर उसके पालन-पोषणकी चिन्ता, फिर उसके सच्चरित्र निकलनेकी कामना, उसके विवाह-शादीकी चिन्ता, फिर रुपया-पैसा कमा सकनेकी क्षमता, पुरानी यश-प्रतिष्ठाके स्थिर रखनेकी कल्पना—अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ मनुष्यके गुप्त मनको विक्षुब्ध किये रहती हैं । एक संतान सैकड़ों कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वोंके अतिरिक्त चिन्ताओंकी जननी है । अतः विवेकवान् व्यक्ति अधिक संतानसे सदैव बचते हैं ।

संसारके जितने बच्चे हैं, सब आपके ही हैं । अपना वात्सल्य उन्हें दीजिये । यदि आपके हृदयमें दूसरोंके लिये दर्द भरा है, यदि आपकी मनोवृत्ति उदार है और आप सहृदय हैं, तो संसारके सब बालक आपके ही हैं। सबमें आपकी आत्मा ही व्याप्त है । सर्वत्र आपके ही बच्चे तो बिखरे पड़े आपका प्यार पानेको तरस रहे हैं । सबमें एक ही देव व्याप्त है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अधिष्ठाता है, सब भूतोंका वासस्थान है, साक्षी है, चेतन है, अकेला है और निर्गुण है ।

## नरकरूप जीवन

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी ।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन, खल मति-मलिन निगम पथ-त्यागी ॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को, स्रवन न रामकथा-अनुरागी ।
सुत-बित-दार-भवन ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी ॥
तुलसिदास हरि-नाम-सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी ।
सूकर-स्वान-सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि-दुख लागी ॥

—तुलसीदासजी

# भगवान् श्रीरामके दत्तक पुत्र

( लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र )

विचित्र शीर्षक देखकर पाठक चौंके विना नहीं रहेंगे। रामने किसे दत्तक पुत्र बनाया और क्यों ? उसके लिये प्रमाण क्या है ?

भगवान् भक्तके वशमें होते हैं और उन्हींकी इच्छा पूरी करते आये हैं। यह भी उसी कृपाका उदाहरण है जो मानसमें ढूँढ़नेसे मिल जाता है।

वीर वाली प्राण त्यागनेको तैयार थे, भगवान्‌को सामने देखकर प्रश्न किया—

**मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥**

भगवान् समुचित उत्तर न दे सके। कहा तुझे कौन मारता है—

**अचल करौं तनु राखहु प्राना।**

इतना कहकर भगवान्‌ने—

**बालि सीस परसेउ निज पानी।**

स्वाभिमानी वाली, सुन्दर अवसर पा कहने लगे—

**जासु नाम बल संकर कासी।**
**देत सबहि सम गति अबिनासी॥**
**सो नयन गोचर जासु गुन नित**
**नेति कहि श्रुति गावहीं।**
**× × × मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥**

जन्म-जन्म मुनि यत्न करते हैं, अन्त समय राम नहीं कह पाते—वे समक्ष हैं—

**बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ?**

तनका मुझे मोह नहीं, माँगूँगा यह कि अब जिस-जिस योनिमें कर्मवश जाना पड़े आपके श्रीपदसे अनुराग रहे—

**जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।**

दूसरी चाह और है, वह यह कि मैं तो श्रीचरणके समक्ष होते ही मुक्त हो गया। मेरे तनसे उत्पन्न मेरा तनय आज अनाथ हो रहा है, इसकी बाँह पकड़ इसे शरणागति दे, आश्रय दे, सनाथ कर अपना दास बनाइये—

**यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।**
**गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥**

इस तरह तन और तनय दोनोंका निपटारा कर—

**सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥**

शरीरको छोड़ भगवत्-धामको वालीने प्रयाण कर दिया।

ताराको इस दत्तक-संस्कारकी प्राथमिक क्रियाका पता न होनेके कारण ही वह रुदन करते समय कह रही थी—

**अंगद कहँ कछु कहन न पायउ।**

अंगदके लिये वाली वह बात कहकर गया था जो कोई पिता कभी नहीं कहता। मृत्युलोकमें तो पिताकी मुक्तिका साधन पुत्रको माना गया है, परंतु यह एक ही उदाहरण था जहाँ अपनी सद्गतिके साथ एक भक्त अपने पुत्रको भी भगवान्‌के समर्पण कर उनकी गोदमें बैठा गया था।

अंगदने तत्काल युवराजपद पाया, भगवान् स्वयं तो युवराज नहीं बन सके थे; परंतु एक आश्रितको उन्होंने युवराज बना दिया।

उस दत्तक पुत्रका उपयोग किन महत्त्वपूर्ण समयों, अवसरोंपर किया गया, यह भी अध्ययनकी वस्तु है।

सीता-खोज-कमीशनके चेयरमैन बनाये गये थे युवराज अंगद और उक्त कार्यको इन्होंने सफल बनाया।

त्रेतामें जिस कार्यको अंगद सम्पन्न करनेको भेजे गये, वह महत्त्वपूर्ण कार्य भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं द्वापरमें किया था।

जब सभामें प्रस्ताव रक्खा गया कि लंकामें सन्धि-प्रस्ताव लेकर अंगद दूतकी तरह जाय तो सर्वसम्मतिसे स्वीकृति दी गयी । भगवान्ने चलते समय विश्वास प्रकट करते हुए कहा—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
( बालितनय बुधि बल गुन धामा )
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

वीर अंगद—सबको सिर नवा प्रभुचरणकी प्रभुता-को हृदयमें रखकर चले । और—

जथा मत्त गज जूथ महुँ पंचानन चलि जाइ—

इस तरह पहुँचे—

यहाँ केवल दो बातें विशिष्ट कीं, जिनसे उनके बुद्धि-बलका प्रमाण मिलता है—

## हाथका पटकना और पदका रोपना

सारी सभा जमी हुई थी । बात-ही-बातमें हाथ इस जोरसे पटके कि अवनि डोल उठी, रावणसहित सब अपदस्थ हो गये ।

'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।''डोलत धरनि सभासद खसे॥'

रावणके मुकुट गिर पड़े—उनमेंसे चारको उठाकर ऐसे फेंका कि भगवान्के समक्ष धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जा खड़े हुए ।

योगी कुयोगीकी राज्यश्री छीनकर आकाशमार्गसे भेज रहा था । साधारण मनुष्य फेंकता दस-पाँच हाथ दूर गिरते—

दूसरी कृति भी—सभामें जब कि इस शर्तपर पैर रोपकर बैठ गये और कहा मेरा पैर कोई भी सरका देगा तो—

फिरहिं रामु सीता मैं हारी ।

प्रयत्नके बाद जब कोई तिलभर भी न सरका सका—बलकी परीक्षा हो चुकनेपर बुद्धिकी परीक्षा हुई ।

रावण सिंहासनसे उठा और नीचे झुककर पैर छूनेको ही था कि बोले—

मम पद गहें न तोर उबारा ।

तुम्हारा उद्धार—

सादर जनक सुता करि आगें ।
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी ।

और प्रणतपाल रघुवंशमणिके सामने—

त्राहि माम् त्राहि माम्—चिल्लाते चलो ।

भगवान् आर्त वचन सुनकर तुम्हें अभय कर देंगे ।

रावण खिसियाकर, अपनी राज्यमणि गँवाकर,

अश्वत्थामा-सा घाव लेकर बैठ गया ।

बुद्धि और बलकी अनोखी साहसभरी क्षमताकी कहानी ऐसी मानसमें और किसकी हो सकती थी ?

अयोध्यामें भगवान्का राजतिलक हो गया । सबको अपने-अपने घर जानेके आदेश हुए । लक्ष्मणजीने विभीषण-को, भरतजीने सुग्रीवको, नल-नीलको स्वयं भगवान्ने वस्त्राभूषण पहना दिये और विदा किया ।

अंगद बैठे रहे, नहीं बोले,—प्रीति जानि प्रभु भी चुप रहे ।

सबके चले जानेके बाद अंगदने भगवान्को प्रणाम किया और सजलनयन बोले—

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥

आपके अंचल, गोदमें मुझे डाल गया था ।

असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही ।

ऐसी करुणाभरी विनयसे भगवान्के नयन सजल

हो गये । सिवा हृदयसे लगा लेनेके भगवान् कुछ न कह सके । दोनोंके नेत्रोंसे जलधार बह रही थी और सब स्तब्ध थे ।

भगवान्को स्मरण आया, मैं वनमें था, अभी दत्तक विधि अधूरी रही है । दत्तक लेनेपर तो पिता अपने वस्त्राभूषण उतारकर पहनाता है । केवल पिताओंके आदान-प्रदानसे विधि पूरी नहीं होती ।

**निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ ।**

किस भाग्यशालीको मानसमें ऐसा बड़भाग उपलब्ध हुआ । अपने बसन, निज उर माला, मणिमुक्ता, सिरका पाग—सब सम्पदा सौंप खुद उघारे हो गये—क्या दत्तक-संस्कारकी अनोखी झाँकी है ? अंगद राम बनकर खड़े हैं, राम सब कुछ सौंपकर रीते खड़े हैं । भगवत्-कृपाकी इति अभी भी नहीं हुई—

इस तरह राजा रामका दत्तक पुत्र वालितनय, युवराज अंगद विदा हुआ ।

**भरत अनुज सौमित्रि समेता । पठवन चले भगत कृत चेता ॥**

किसीको यह सम्मान नहीं उपलब्ध हुआ था । यह पहला और अन्तिम रामराज्यका अधिकार-प्रदान था ।

**बार बार कर दंड प्रनामा ।**

दत्तक पुत्र अंगद अयोध्याके राजमार्गसे रामके वस्त्राभूषण धारण किये पंचानन-पुत्रकी भाँति चले जा रहे थे । अयोध्यावासी दो राम देख बलिहार हो रहे थे, देव पुष्पवर्षा कर रहे थे । एक बार सबको भ्रम हो जाता था, कुछ किसीकी समझमें न आता था । तुलसीके शब्द इस स्थलपर हैं—

**कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।**
**चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि ॥**

और यह था केवल भारतीय दत्तक विधानका दूसरा संस्कार जो किष्किन्धामें नहीं हुआ और अयोध्यामें सम्पन्न किया गया—तनकी सद्गतिके अनन्तर अवशेष तनयका सफल जीवन, मुकुटके बदले मुकुट, राज्यश्रीके बदले राज्यश्री देकर सम्पन्न किया । राम-विलोकनि, बोलनि, चलनी और हँसिमिलनीको बार-बार स्मरण करते हुए गद्गद् होते दत्तक-पुत्र राम किष्किन्धाको जा रहे हैं—**चलेउ हृदयँ पद-पंकज राखी ।**

## रामके समान दूसरा कौन है ?

**जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।**
**काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥**
**कौनै देव बराइ बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे ।**
**खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़ जवन कवन सुर तारे ॥**
**देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया बिबस बिचारे ।**
**तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु ! कहा अपनपौ हारे ॥**

—विनयपत्रिका

# पतनोन्मुख मानव-समाजकी रक्षा कैसे हो ?

( हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानका अंश )

पाप और पुण्यकी सीधी-सी परिभाषा यह है कि जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो, वह पाप है और जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, वह पुण्य है। जिससे दूसरोंका हित नहीं होता, उससे अपना हित कदापि नहीं होगा और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना कभी अहित नहीं होगा—यह सिद्धान्त निश्चयरूपसे मान लेना चाहिये । हमारा वास्तविक हित दूसरोंके हितमें ही समाया है। जो मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हम दूसरोंका अहित करके या दूसरोंके हितकी उपेक्षा करके अपना हित करते हैं या कर लेंगे, वे वस्तुतः बड़े मूर्ख हैं। वे अपना हित कभी कर ही नहीं पाते। यह मान्यता ही भ्रम है कि दूसरोंके हितकी उपेक्षा या उनका अहित करनेसे हमारा हित हो जायगा। यथार्थमें वे मनुष्य बड़े ही अभागे हैं, जो दूसरोंके अहितमें अपना हित और दूसरोंके दुःखमें अपना सुख समझते हैं। ऐसे मनुष्य ही असुर-मानव हैं, जिनका जीवन दूसरोंकी बुराईमें ही लगा रहता है। वे दूसरोंकी बुराई करने जाकर अपनी ही बुराई करते हैं।

संसारमें साधारणतया नौ प्रकारके मनुष्य होते हैं—

( १ ) जो दूसरोंके हितमें ही अपना हित समझते हैं, अतएव जीवनभर प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही करते हैं। अपना नुकसान करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाया करते हैं।

( २ ) जो दूसरोंके हितको प्रमुख मानते हैं और अपने हितको गौण, अतः जहाँ दूसरोंका हित होता हो, वहाँ अपने हितकी चिन्ता छोड़ देते हैं।

( ३ ) जो दूसरोंका हित चाहते हैं—करते हैं परंतु अपना नुकसान सहकर या अपने हितकी चिन्ता छोड़कर नहीं।

( ४ ) जो दूसरोंका हित तो चाहते हैं और करते भी हैं, परंतु वहीं चाहते-करते हैं जहाँ अपना भी लाभ समझते हैं, नहीं तो—नहीं करते। अर्थात् अपने लाभके लिये ही दूसरोंका हित करते हैं।

( ५ ) जो केवल अपना ही हित देखते हैं, दूसरोंके हितका विचार ही नहीं करते।

( ६ ) जो अपने हितके लिये दूसरोंके हितकी जान-बूझकर उपेक्षा करते हैं।

( ७ ) जो अपने हितके लिये दूसरोंका अहित सोचते हैं और करनेमें नहीं हिचकते।

( ८ ) जो अपनेको बचाकर दूसरोंका अहित ही करना चाहते हैं और दिन-रात उसीमें लगे रहते हैं।

( ९ ) जो अपना अहित करके भी दूसरोंका अहित करनेमें लगे रहते हैं।

इन नौमें प्रथम सर्वश्रेष्ठ हैं और नवम सबसे नीच—अधम।

प्रथम वस्तुतः दूसरोंको पर मानते ही नहीं। वे तो सबको अपना स्वरूप ही मानकर सबके सुख-दुःखमें स्वयं सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, उनका 'स्व' अखिल जगत्‌के प्राणियोंमें प्रसरित होकर पवित्र हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये श्रीभगवान्‌ने भगवद्गीतामें कहा है—

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**
( ६। ३२ )

'अर्जुन ! जो अपने ही समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें समदृष्टि रखता है और सबके सुख या दुःखको भी समतासे देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' वस्तुतः उसके अनुभवमें सर्वत्र एक आत्मा ही

रह जाता है। वह किसी भी वर्ग, वर्ण, जाति, पद, देश, धन, सम्प्रदाय आदिके भेदसे आत्मामें भेद नहीं मानता। भेदोंमें रहते हुए ही वह अभेदभावसे सबका वैसे ही हित चाहता और करता है जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और नीचेकी इन्द्रियाँ आदिके व्यवहारमें भेद मानता तथा बरतता हुआ भी उनमें समान आत्मभाव रखता और उनका सहज ही हित चाहता तथा करता है। ऐसे सबमें 'स्व' की अनुभूति करनेवालेका 'स्वार्थ' पवित्र हो जाता है; क्योंकि सबका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ बन जाता है, सबका हित ही उसका हित बन जाता है और सबका सुख ही उसका सुख हो जाता है। वह केवल एक छोटे-से समाजमें ही नहीं, समस्त विश्वमें आत्मीयताका अनुभव करता हुआ कभी किसीका अहित तो करता ही नहीं, किसीको दुःख तो पहुँचाता ही नहीं, उनके हितकी या सुखकी अवहेलना या उपेक्षा भी नहीं कर सकता। वह निरन्तर सहज ही 'सर्वभूतहित' में रत रहता है। भगवान्‌ने ज्ञानी साधकके लिये कहा है—

> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
> सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
> संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
> ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
> (गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष अपनी सारी इन्द्रियोंको भलीभाँति नियन्त्रणमें रखते हैं, समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं और सबमें समबुद्धि रखते हैं, वे अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, नित्य, अचल, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हुए मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होते हैं।'

जो सर्वत्र एक परम तत्त्वका दर्शन करते हैं, वे इन्द्रियसुखकी इच्छा कैसे करेंगे; उनकी इन्द्रियाँ सहज ही भोग-सुखोंसे हटी रहेंगी। सबमें सहज ही उनकी समबुद्धि होगी और सबका हित ही उनका सहज कर्म होगा।

भक्तके लिये तो भक्तोंकी स्वरूप-व्याख्याके आरम्भमें ही भगवान् कहते हैं—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
> (गीता १२। १३-१४)

'जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, 'सबका निःस्वार्थ प्रेमी, सहज ही करुणहृदय, ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (अपराध करनेवालेका मङ्गल चाहनेवाला), निरन्तर लाभ-हानिकी प्रत्येक स्थितिमें संतुष्ट, मन-इन्द्रिय-शरीरको वशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी पुरुष है, वह मुझमें (भगवान्‌में) मन-बुद्धिको अर्पण कर चुका हुआ मेरा भक्त मुझे बड़ा प्रिय है।'

ऐसा भक्त अपने इन्द्रिय-सुख या अपने किसी पृथक् सुखके लिये कैसे प्रयत्न करेगा? उसे तो इसकी कामना ही नहीं होगी। सबका सुख ही उसका सुख होगा।

वस्तुतः विश्वमें जब इस प्रकारके आदर्श ज्ञानी या भक्तोंका समाज बनेगा, तभी यहाँ यथार्थ सुख-शान्ति होगी। आजका समाज तो सचमुच बहुत गिर गया है या गिर रहा है, जिसमें ऐसे व्यक्ति भरे हैं, जो इन्द्रियोंके गुलाम हैं, मनके दास हैं, दिन-रात मौज-शौक-विलासमें रहना चाहते हैं, अपने इन्द्रिय-सुखके लिये दूसरोंके दुःख या अहितकी परवा ही नहीं करते; अपनेको ही सुखी बनानेकी धुनमें सदा लगे रहते हैं और इसके लिये दूसरोंका प्रत्यक्ष अहित करते रहते हैं। इस स्थितिको मिटानेके लिये भगवान्‌के आदर्श वाक्योंके अनुसार एक नवीन विश्वका निर्माण

होना चाहिये, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त ज्ञानी या भक्तके आदर्श जीवनसे सम्पन्न हो । यह तभी होगा, जब मानव दूसरोंको ऐसा बनानेकी चिन्ता न करके पहले स्वयं ऐसा बनना चाहेगा और इसके लिये पूरा प्रयत्न करेगा । आजका मानव दिन-रात गला फाड़कर और कलम चलाकर दूसरोंको उपदेश करता है, पद-पदपर उनकी भूलें बताकर उन्हें भूल सुधारनेका आदेश देता है, पर स्वयं न अपनी भूलोंको देखता है और न उन्हें सुधारनेका ही प्रयत्न करता है । स्वयं दिन-रात आसुरी-सम्पदाके सेवनमें लगा रहकर ही जगत्को देव बनानेकी बातें किया करता है, इससे दम्भ बढ़नेके सिवा और कुछ नहीं होता । सच कहा जाय तो आजका मानव उन्नत नहीं हो रहा है,—भले वह विज्ञानमें तथा अर्थपैशाचिकतामें ऊँचा चढ़ गया हो,—बल्कि अपने आदर्श मानवीय गुणोंकी—जो उसे देवता बनानेमें समर्थ हैं—अवहेलना करके दिनोंदिन असुरत्वकी ओर—पतनकी ओर जा रहा है ।

इसीसे उपर्युक्त नवम प्रकारके मनुष्य भी आज मानव-समाजमें उत्पन्न हो गये हैं, जो अपना नुकसान करके भी, अपना अहित करके भी दूसरोंको नुकसान पहुँचाने या दूसरोंका अहित करनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं । ऐसे नराधम जगत्का अकल्याण ही करते हैं ।

जो लोग अपना वास्तविक हित चाहते हैं और यथार्थमें अपना, देशका या विश्वका सुधार या उद्धार चाहते हैं, उनके लिये यह परम आवश्यक है कि वे दूसरोंको अपना समझें और उनके हितमें ही अपना हित समझकर कार्य करें । ऐसा होनेपर जीवनमें संयम, सदाचार, सेवा आदि सद्गुण अपने-आप ही आ जायँगे ।

आजकल एक नया रोग फैला है—'जीवनके स्तर-को, रहन-सहनको ऊँचा उठाओ ।' त्याग, तपस्या, संयम, सादगी, सेवा, सदाचार, मितव्ययिता आदिमें नहीं; भोग, उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचार, विलासिता, आरामतलबी, अनाचार, फजूलखर्ची आदिमें । इसका आदर्श है—अनावश्यक आवश्यकताओंको बढ़ाते रहो । अधिक-से-अधिक वस्तुओंका उपयोग करो, मौज-शौककी चीजें बरतनेकी आदत डालो, हाथ-पैरसे कामकाज न करो, श्रम करनेमें अपमान समझो, सिनेमा-रेडियो आदिसे आनन्द लूटो, जीवनको भोगमय या इन्द्रियोंका गुलाम बना लो । फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जीवन-का सारा समय तथा सारी विवेक-बुद्धिको लगाते रहो ।

गमछा पहनकर कुएँपर या नदीमें नहा आये तो नीचा स्तर और गुशलखानेमें टट्टीदानके बगलमें ही टबमें नंगे होकर नहाये तो ऊँचा स्तर ।

शौच जाकर मिट्टीसे हाथ धोये तो नीचा स्तर, चर्बी मिली साबुनसे हाथ धोये या न धोये तो ऊँचा स्तर ।

पहननेके लिये एक जोड़ी जूता रक्खा तो नीचा स्तर और दसों जोड़े जूते—भोजनका, शयनकक्षका, टेनिस्का, फुटबॉलका, दिनका, रातका, आफिसका, क्लबका, पार्टीका अलग-अलग—मानो मोचीकी दूकान लगी हो तो ऊँचा स्तर ।

जमीनपर आसनपर बैठे और हाथसे भोजन किया तो नीचा स्तर और टेबलपर चम्मच, छूरे, काँटेसे खाया तो ऊँचा स्तर ।

शुद्धताके साथ परसा हुआ भोजन किया तो नीचा स्तर, दूसरोंकी जूठन खायी, एक ही जूठे चम्मचसे ले-लेकर खाया तो ऊँचा स्तर ।

घरमें रेडियो न रक्खा तो नीचा स्तर, रखा तो ऊँचा स्तर ।

सप्ताहमें एक बार भी सिनेमा न देखा तो नीचा स्तर, रोज-रोज गये तो ऊँचा स्तर ।

पाठ-संध्या-पूजा की, तिलकादि लगाया तो नीचा स्तर, उठते ही बिस्तरपर चाय पीया, सिगरेटसे धूआँ फेंका और अखबार पढ़ा तो ऊँचा स्तर ।

स्त्रियाँ देशी चन्दन-कर्पूरादि पदार्थोंका लेप करें, देशी तेल, इत्र लगावें, बिंदी-सिन्दूर लगावें, मेंहदी-आलताका प्रयोग करें तो नीचा स्तर। विदेशी पोस्ट पाउडर, स्नो-क्रीम, नखराग ( नेल-पालिश ), अधर-राग ( लिपस्टिक ), बालोंके लोशन, बालोंको घुँघराले बनानेवाले थियोग्लार कोल एसिड आदिका उपयोग करें तो ऊँचा स्तर !

इस ऊँचे स्तरके निर्माणमें मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, बेहद खर्च, समयका नाश और इन्द्रियोंका दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं, इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते हैं। हमारे छात्र-छात्राओंमें यह रोग बहुत तेजीसे बढ़ रहा है, जो देशके लिये अत्यन्त घातक है। विलासी तथा अनावश्यक खर्च करनेवाला आदमी न समाज या लोक-हितकी बात सोच सकता है, न कर सकता है। उसका समय तथा साधन तो सारा अपनी अनावश्यक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही लग जाता है। अतएव हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारी इन नकली आवश्यकताओंका नियन्त्रण हो, फैशनकी इच्छा तथा बाहरी दिखावेका मोह छूटे और हमारा जीवन पवित्र, संयमपूर्ण तथा सादा-सीधा हो।

विलासिता, फैशन तथा बाहरी आडम्बरमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, मनपरसे उसका नियन्त्रण उठ जाता है। वह पराये हितकी तो बात दूर रही, अपने हितकी बात भी नहीं सोच सकता। इसीसे अन्याय, अधर्म, चोरी, ठगीसे धन कमाकर वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रयत्नमें लगा रहता है और फैशनकी जिस किसी चीजको देखता है, उसीको संग्रह करनेके लिये लालायित रहता है ! ऐसे स्त्री-पुरुष सदा खर्चसे तंग रहते हैं, रोते हैं, पर अपनी बुरी आदतको नहीं छोड़ते। पैसेकी बहुत छूट न होनेपर भी फैशनकी चीजोंका अनावश्यक संग्रह करना चाहते हैं और करते हैं। उचित बात तो यह है कि जिनके पास पैसे अधिक हैं, उनको भी अपने लिये उतना ही खर्च करना चाहिये, जितनेसे शरीरका तथा घरका काम सादगीके साथ अच्छी तरह चलता रहे और शेष पैसा समाजके अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये। तभी धनका सदुपयोग है, तभी धनके द्वारा भगवान्‌की पूजा है और तभी वह अर्थ अनर्थकारी न होकर मुक्तिका—भगवत्-प्रीतिका साधन बनता है। हमारे शास्त्र तो कहते हैं कि 'मनुष्यका उतनेपर ही हक है, जितनेसे उसका पेट भरता है, इससे अधिकपर जो अपना हक मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये'—

**यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।**
**अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥**
( श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८ )

जो अपने लिये ही धनका उपयोग करते हैं, अपनेको धनका स्वामी मानकर अपने ही लिये अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह-परिग्रह करते हैं, वे ईश्वरके धनके चोर तो हैं ही, दूसरे लोगोंकी अभावपूर्तिमें बाधक बनकर एक नया पाप और करते हैं। देशमें करोड़ों आदमियोंको अङ्ग ढकनेके लिये भी पर्याप्त कपड़े नहीं हैं, और कुछ लोगोंकी पेटियाँ, आलमारियाँ कपड़ोंसे भरी रहती हैं, नये-नये फैशनके कपड़े वे खरीदते ही रहते हैं। सुना है कि कोट-पैंट आदिकी सिलाईमें वे दो सौसे पाँच सौ रुपयेतक व्यय कर देते हैं। उनके घरोंमें इधर-उधर कपड़े बिखरे पड़े रहते हैं, दीमक लग जाती है, ऊनी-रेशमी कपड़ोंको कीड़े काट डालते हैं, पर परिग्रहसे उनका मन नहीं भरता। खानेके लिये मनुष्यको कितना चाहिये, पर हमलोग पचासों प्रकारकी चीजें बनाकर शरीरकी आदतोंको बिगाड़ते, नये-नये रोगोंको बुलाते

तथा खाद्य पदार्थोंका विपुल संग्रह रखनेमें अपनी शान समझते हैं। जहाँ करोड़ों भाई एक समय पेटभर पूरा खा नहीं पाते, वहाँ ऐसा व्यवहार क्या पाप नहीं है? करोड़ों मनुष्य टूटी झोपड़ियोंमें रहते हैं, पर एक मनुष्य दरजनों मकानोंपर अपना नाम रखता है। ऐसा नहीं कि वह दर्जनों मकानोंमें एक साथ सोता-बैठता हो। हाथ कहीं सोये, पैर कहीं सोये, सिर कहीं सोये—ऐसा नहीं होता, उसका अभिमानमात्र बढ़ता है। पर मनुष्यका मोह उसे ममताके विस्तारमें लगाये रखता है। वह अपने लिये मकान भी बनाता है तो उसमें बीसों कमरे होते हैं। यह सब अनावश्यक वस्तुओंकी आवश्यकता तथा उनके संग्रह-परिग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यको दूसरोंके हितों-की ओरसे अंधा बना देती है और प्रकारान्तरसे वह मानव-समाजका अहित करनेमें ही लगा रहता है। यह प्रवृत्ति समाजमें इसी प्रकार बनी रही और बढ़ती रही तो पता नहीं, समाजकी क्या दशा होगी। समाजके हितैषी पुरुषोंको तथा प्रत्येक समझदार पुरुषको इसपर विचार करके ऐसे अमोघ उपाय सोचने तथा करने चाहिये जिससे मानव-समाज इस पतनोन्मुखी प्रवृत्तिसे बचे तथा सबको इहलौकिक सुख-शान्तिके साथ मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य विशुद्ध आत्मस्वरूपकी या भगवान्‌की प्राप्ति हो।

# सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

( लेखक—श्रीभगवानदासजी केला )

धर्मका मतलब सत्य यानी ईश्वरकी प्राप्ति है। धर्म प्रेमका पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा? मनुष्य एक ओर तो ईश्वरकी पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्यका तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं।

—गाँधीजी

आज हम लोगोंको केवल एक नैतिक उपदेश देते रहें तो उससे काम नहीं होगा। आज तो हमें लोगोंकी मुश्किलें, दुश्वारियाँ दूर करनी होंगी, तभी उनमें सद्विचार स्थिर होंगे। जिस वक्त आस-पास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्तिका ध्यान करने बैठें तो यह भक्ति-मार्गका लक्षण नहीं होगा। उस समय तो हाथमें बाल्टी लेकर आग बुझानेके लिये दौड़ना ही भक्ति-मार्गका लक्षण होगा।

—विनोबा

## धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त हैं

इस समय संसारमें अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्मके उपदेशों और शिक्षाओं-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य है। खासकर मुख्य-मुख्य धर्मोंके साहित्यका परिमाण तो निरन्तर बढ़ता जाता है। आदमी अपने-अपने धर्मोंके प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषोंके वाक्योंकी तरह-तरहकी व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओंमें छपवाते और प्रचार करते रहते हैं। इस प्रकार एक-एक धर्मसम्बन्धी इतने ग्रन्थ हैं कि आदमी जन्मभर उन्हें ही पढ़ता रहे तो भी सबको न पढ़ सके; और साधारण आदमी अकेले इसी काममें लगा भी नहीं रह सकता। अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओंका तथा टीका-टिप्पणियोंका कोई अन्त नहीं।

## धर्मका सार

साधारण मनुष्यको धर्मकी बारीकियों और उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। मुख्य तत्त्वकी बात जान लेनी चाहिये। कबीरने ठीक बताया है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय॥

स्त्रियाँ देशी चन्दन-कर्पूरादि पदार्थोंका लेप करें, देशी तेल, इत्र लगावें, बिंदी-सिन्दूर लगावें, मेंहदी-आलताका प्रयोग करें तो नीचा स्तर । विदेशी पोस्ट पाउडर, स्नो-क्रीम, नखराग ( नेल-पालिश ), अधर-राग ( लिपस्टिक ), बालोंके लोशन, बालोंको घुँघराले बनानेवाले थियोग्लार कोल एसिड आदिका उपयोग करें तो ऊँचा स्तर !

इस ऊँचे स्तरके निर्माणमें मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, बेहद खर्च, समयका नाश और इन्द्रियोंका दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं, इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते हैं । हमारे छात्र-छात्राओंमें यह रोग बहुत तेजीसे बढ़ रहा है, जो देशके लिये अत्यन्त घातक है । विलासी तथा अनावश्यक खर्च करनेवाला आदमी न समाज या लोक-हितकी बात सोच सकता है, न कर सकता है । उसका समय तथा साधन तो सारा अपनी अनावश्यक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही लग जाता है। अतएव हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारी इन नकली आवश्यकताओंका नियन्त्रण हो, फैशनकी इच्छा तथा बाहरी दिखावेका मोह छूटे और हमारा जीवन पवित्र, संयमपूर्ण तथा सादा-सीधा हो ।

विलासिता, फैशन तथा बाहरी आडम्बरमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, मनपरसे उसका नियन्त्रण उठ जाता है । वह पराये हितकी तो बात दूर रही, अपने हितकी बात भी नहीं सोच सकता । इसीसे अन्याय, अधर्म, चोरी, ठगीसे धन कमाकर वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रयत्नमें लगा रहता है और फैशनकी जिस किसी चीजको देखता है, उसीको संग्रह करनेके लिये लालायित रहता है ! ऐसे स्त्री-पुरुष सदा खर्चसे तंग रहते हैं, रोते हैं, पर अपनी बुरी आदतको नहीं छोड़ते । पैसेकी बहुत छूट न होनेपर भी फैशनकी चीजोंका अनावश्यक संग्रह करना चाहते हैं और करते हैं। उचित बात तो यह है कि जिनके पास पैसे अधिक हैं, उनको भी अपने लिये उतना ही खर्च करना चाहिये, जितनेसे शरीरका तथा घरका काम सादगीके साथ अच्छी तरह चलता रहे और शेष पैसा समाजके अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये । तभी धनका सदुपयोग है, तभी धनके द्वारा भगवान्‌की पूजा है और तभी वह अर्थ अनर्थकारी न होकर मुक्तिका—भगवत्-प्रीतिका साधन बनता है । हमारे शास्त्र तो कहते हैं कि 'मनुष्यका उतनेपर ही हक है, जितनेसे उसका पेट भरता है, इससे अधिकपर जो अपना हक मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये'—

**यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।**
**अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥**
( श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८ )

जो अपने लिये ही धनका उपयोग करते हैं, अपनेको धनका स्वामी मानकर अपने ही लिये अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह-परिग्रह करते हैं, वे ईश्वरके धनके चोर तो हैं ही, दूसरे लोगोंकी अभावपूर्तिमें बाधक बनकर एक नया पाप और करते हैं । देशमें करोड़ों आदमियोंको अङ्ग ढकनेके लिये भी पर्याप्त कपड़े नहीं हैं, और कुछ लोगोंकी पेटियाँ, आलमारियाँ कपड़ोंसे भरी रहती हैं, नये-नये फैशनके कपड़े वे खरीदते ही रहते हैं । सुना है कि कोट-पैंट आदिकी सिलाईमें वे दो सौसे पाँच सौ रुपयेतक व्यय कर देते हैं । उनके घरोंमें इधर-उधर कपड़े बिखरे पड़े रहते हैं, दीमक लग जाती है, ऊनी-रेशमी कपड़ोंको कीड़े काट डालते हैं, पर परिग्रहसे उनका मन नहीं भरता । खानेके लिये मनुष्यको कितना चाहिये, पर हमलोग पचासों प्रकारकी चीजें बनाकर शरीरकी आदतोंको बिगाड़ते, नये-नये रोगोंको बुलाते

तथा खाद्य पदार्थोंका विपुल संग्रह रखनेमें अपनी शान समझते हैं । जहाँ करोड़ों भाई एक समय पेटभर पूरा खा नहीं पाते, वहाँ ऐसा व्यवहार क्या पाप नहीं है ? करोड़ों मनुष्य टूटी झोपड़ियोंमें रहते हैं, पर एक मनुष्य दरजनों मकानोंपर अपना नाम रखता है । ऐसा नहीं कि वह दर्जनों मकानोंमें एक साथ सोता-बैठता हो । हाथ कहीं सोये, पैर कहीं सोये, सिर कहीं सोये—ऐसा नहीं होता, उसका अभिमानमात्र बढ़ता है । पर मनुष्यका मोह उसे ममताके विस्तारमें लगाये रखता है । वह अपने लिये मकान भी बनाता है तो उसमें बीसों कमरे होते हैं । यह सब अनावश्यक वस्तुओंकी आवश्यकता तथा उनके संग्रह-परिग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यको दूसरोंके हितों-की ओरसे अंधा बना देती है और प्रकारान्तरसे वह मानव-समाजका अहित करनेमें ही लगा रहता है । यह प्रवृत्ति समाजमें इसी प्रकार बनी रही और बढ़ती रही तो पता नहीं, समाजकी क्या दशा होगी । समाजके हितैषी पुरुषोंको तथा प्रत्येक समझदार पुरुषको इसपर विचार करके ऐसे अमोघ उपाय सोचने तथा करने चाहिये जिससे मानव-समाज इस पतनोन्मुखी प्रवृत्तिसे बचे तथा सबको इहलौकिक सुख-शान्तिके साथ मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य विशुद्ध आत्मस्वरूपकी या भगवान्‌की प्राप्ति हो ।

---

# सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

( लेखक—श्रीभगवानदासजी केला )

धर्मका मतलब सत्य यानी ईश्वरकी प्राप्ति है । धर्म प्रेमका पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा ? मनुष्य एक ओर तो ईश्वरकी पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्यका तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं ।

—गाँधीजी

आज हम लोगोंको केवल एक नैतिक उपदेश देते रहें तो उससे काम नहीं होगा । आज तो हमें लोगोंकी मुश्किलें, दुश्वारियाँ दूर करनी होंगी, तभी उनमें सद्विचार स्थिर होंगे । जिस वक्त आस-पास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्तिका ध्यान करने बैठें तो यह भक्ति-मार्गका लक्षण नहीं होगा । उस समय तो हाथमें बाल्टी लेकर आग बुझानेके लिये दौड़ना ही भक्ति-मार्गका लक्षण होगा ।

—विनोबा

## धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त हैं

इस समय संसारमें अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित हैं । प्रत्येक धर्मके उपदेशों और शिक्षाओं-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य है । खासकर मुख्य-मुख्य धर्मोंके साहित्यका परिमाण तो निरन्तर बढ़ता जाता है । आदमी अपने-अपने धर्मोंके प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषोंके वाक्योंकी तरह-तरहकी व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओंमें छपवाते और प्रचार करते रहते हैं । इस प्रकार एक-एक धर्मसम्बन्धी इतने ग्रन्थ हैं कि आदमी जन्मभर उन्हें ही पढ़ता रहे तो भी सबको न पढ़ सके; और साधारण आदमी अकेले इसी काममें लगा भी नहीं रह सकता । अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओंका तथा टीका-टिप्पणियोंका कोई अन्त नहीं ।

## धर्मका सार

साधारण मनुष्यको धर्मकी बारीकियों और उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं । मुख्य तत्त्वकी बात जान लेनी चाहिये । कबीरने ठीक बताया है—

> पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
> ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय ॥

इसी प्रकार तुलसीने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस तरह सरल-सीधी भाषामें धर्मका अर्थ प्रेम और परहित-साधन या सेवा है। आदमीको इन्हें अमलमें लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिये।

## सद्व्यवहार ही भगवान्‌की पूजा है

हम सब भगवान्‌की पूजा-उपासना करनेका दम भरते हैं। पर भगवान् हमें दरिद्रनारायणके रूपमें दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम-धर्म-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि एक धनवान्‌के मरनेपर अल्लाह उससे कहता है कि 'ऐ आदमीके बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खानेको नहीं दिया।' आदमी पूछता है, 'तूने मुझसे खाना कब माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है—'मैं मजदूरके रूपमें तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमीके बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है—'कब तूने मुझसे पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है कि 'मैं मेहनत करनेके बाद प्यासा होनेपर तेरे दरवाजेपर गया और तुझसे पानी माँगा, पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहारपर कितनी ठीक बैठती है!

## प्रेममें ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है

असली धर्म माननेवाले व्यक्तिके लिये यह सारा संसार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियोंसे प्रेम करेगा, उसके प्रेमका क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारोंतक ही या उसकी जाति-बिरादरीके लोगोंतक ही सीमित नहीं होता, वह सबमें ईश्वरका स्वरूप देखता है। वह सबसे स्नेहका नाता रखता है, सबको अपने परिवार या कुटुम्बका मानता है। उसके लिये छुआछूतका प्रश्न ही नहीं रहता, वह सबको समभावसे देखता है, सबसे प्रेम करता है, ऊँच-नीचकी थोथी कल्पनाको उसके मनमें स्थान नहीं मिल सकता। वह किसीको कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिये दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आपको पीड़ा पहुँचाना है। वह किसीके मजहबकी निन्दा नहीं करता, वह सबमें समदृष्टि रखता है और सबकी अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करनेको तैयार रहता है।

## सेवामय जीवन

ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव करता है और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधनका मार्ग लोकसेवा है, यही प्रेमका व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा किसीसे प्रेम करनेका अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिये कुछ मीठे शब्द कहकर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्रका हित चाहें और हित-साधनका प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावोंको दूर करनेका उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकासका मार्ग प्रशस्त करें। धर्म-भावनावाले अपने कर्तव्य-पालनमें सब प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं और वे इसमें कोई दुःख अनुभव नहीं करते। उनके हृदयमें सबके लिये माताका-सा प्रेम होता है। वे अपने पासके सब आदमियोंको सुख पहुँचानेमें अपना सुख मानते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

## सेवाके अनेक क्षेत्र

सेवा किसी खास प्रकारके नपे-तुले कामका नाम नहीं है और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम चाहे जो कार्य करें, उसमें परहितका लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिंसा आदि गुणोंके अभ्यासका निरन्तर ध्यान रखें तो

वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा । उदाहरणके लिये व्यापारकी बात लीजिये । प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता । इसे धन कमानेका साधन माना जाता है । परंतु वास्तवमें यह बहुत बड़ी सेवाका कार्य है । एक गाँवमें लोगोंके भोजन-वस्त्र आदिकी प्रमुख आवश्यकताके किसी पदार्थकी कमीके कारण बहुत संकट है । व्यापारी इस पदार्थको दूसरे स्थानसे लाकर वहाँ पहुँचाता है और इसकी मूल लागतमें मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़कर इसे साधारण मूल्यमें जनताके हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है । हाँ, अगर व्यापारीका लक्ष्य अपने कार्य-द्वारा अधिक-से-अधिक धन बटोरना हो, वह लोगोंकी प्रमुख आवश्यकताओंका विचार न कर ऐसे पदार्थोंका प्रचार करता है, जो जनताके भोग-विलासके साधन हों और जिन्हें खरीदनेके लिये आदमी भारी मूल्य भी देनेको तैयार हों या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता । वास्तवमें इसे व्यापार कहना ही भूल है । यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाजमें खूब चल रही हो और कानूनसे अपराध न मानी जाती हो । अस्तु, परहितका ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना लेकर किया हुआ व्यापार सेवा ही है । वास्तविक व्यापार और सेवामें कोई विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बातके लिये प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़े, वह जनतामें स्वास्थ्यके नियमोंका प्रचार करता है और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतुमें ऐसा खान-पान आदि करना रोगोंको आमन्त्रित करना है, वह बीमारोंको जल्दी-से-जल्दी तथा अल्प व्ययसे ही नीरोग करनेके लिये चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाहके लिये लोगोंसे अपने कामकी साधारण फीस क्यों न लेता हो । इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रहके लिये रोगियोंको दवाईके चक्करमें डालता है, मँहगी और खूब मुनाफा देनेवाली विधियोंका उपयोग करता है, यहाँतक कि गरीब और असमर्थ लोगोंसे भी भारी-भारी फीस वसूल करता है और रोगियोंके स्वस्थ न होने तथा मर जानेपर भी अपनी फीसका अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्यको सेवा-कार्य नहीं माना जायगा और इसे करनेवालेको वास्तवमें डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दोंका दुरुपयोग करना है !

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दूकानदार आदिके कार्योंका विचार किया जा सकता है ।

## विशेष वक्तव्य

किसी कार्यके सेवा-कार्य होनेके लिये यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्कामभावसे किया जाय । सेवा करनेवाला अपना काम कर्तव्य समझकर करता है । उसके मनमें यह विचार नहीं आता कि मैं समाजपर कोई उपकार या एहसान करता हूँ । वह अपने आपको समाजका एक अङ्ग मानता है और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदिको समाजद्वारा प्राप्त समझता है । इसलिये वह समाजका हिस्सा चुकाकर उससे यथाशक्ति उऋण होनेका प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमानकी गुंजाइश ही कहाँ ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तवमें धर्मात्मा हैं ।*

* लेखककी 'समाज रचना; सर्वोदय दृष्टिसे' पुस्तकसे ।

इसी प्रकार तुलसीने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

इस तरह सरल-सीधी भाषामें धर्मका अर्थ प्रेम और परहित-साधन या सेवा है । आदमीको इन्हें अमलमें लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिये ।

## सद्व्यवहार ही भगवान्‌की पूजा है

हम सब भगवान्‌की पूजा-उपासना करनेका दम भरते हैं । पर भगवान् हमें दरिद्रनारायणके रूपमें दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं । इसलाम-धर्म-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि एक धनवान्‌के मरनेपर अल्लाह उससे कहता है कि 'ऐ आदमीके बेटे ! मैं भूखा था, तूने मुझे खानेको नहीं दिया ।' आदमी पूछता है, 'तूने मुझसे खाना कब माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया ?' अल्लाह जवाब देता है—'मैं मजदूरके रूपमें तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी । इससे मैं भूखा रहा ।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमीके बेटे ! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया ।' आदमी हैरान होकर पूछता है—'कब तूने मुझसे पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया ?' अल्लाह जवाब देता है कि 'मैं मेहनत करनेके बाद प्यासा होनेपर तेरे दरवाजेपर गया और तुझसे पानी माँगा, पर तूने मुझे पानी नहीं दिया ।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहारपर कितनी ठीक बैठती है !

## प्रेममें ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है

असली धर्म माननेवाले व्यक्तिके लिये यह सारा संसार ईश्वरमय है । वह सब प्राणियोंसे प्रेम करेगा, उसके प्रेमका क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारोंतक ही या उसकी जाति-बिरादरीके लोगोंतक ही सीमित नहीं होता, वह सबमें ईश्वरका स्वरूप देखता है। वह सबसे स्नेहका नाता रखता है, सबको अपने परिवार या कुटुम्बका मानता है । उसके लिये छुआछूतका प्रश्न ही नहीं रहता, वह सबको समभावसे देखता है, सबसे प्रेम करता है, ऊँच-नीचकी थोथी कल्पनाको उसके मनमें स्थान नहीं मिल सकता । वह किसीको कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिये दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आपको पीड़ा पहुँचाना है । वह किसीके मजहबकी निन्दा नहीं करता, वह सबमें समदृष्टि रखता है और सबकी अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करनेको तैयार रहता है ।

## सेवामय जीवन

ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव करता है और वह ऐक्य-साधन करता है । ऐक्य-साधनका मार्ग लोकसेवा है, यही प्रेमका व्यावहारिक स्वरूप है । हमारा किसीसे प्रेम करनेका अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिये कुछ मीठे शब्द कहकर रह जायँ । प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्रका हित चाहें और हित-साधनका प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावोंको दूर करनेका उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकासका मार्ग प्रशस्त करें । धर्म-भावनावाले अपने कर्तव्य-पालनमें सब प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं और वे इसमें कोई दुःख अनुभव नहीं करते । उनके हृदयमें सबके लिये माताका-सा प्रेम होता है । वे अपने पासके सब आदमियोंको सुख पहुँचानेमें अपना सुख मानते हैं । सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता ।

## सेवाके अनेक क्षेत्र

सेवा किसी खास प्रकारके नपे-तुले कामका नाम नहीं है और यह कोई खास पेशा नहीं है । हम चाहे जो कार्य करें, उसमें परहितका लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिंसा आदि गुणोंके अभ्यासका निरन्तर ध्यान रखें तो

वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा । उदाहरणके लिये व्यापारकी बात लीजिये । प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता । इसे धन कमानेका साधन माना जाता है । परंतु वास्तवमें यह बहुत बड़ी सेवाका कार्य है । एक गाँवमें लोगोंके भोजन-वस्त्र आदिकी प्रमुख आवश्यकताके किसी पदार्थकी कमीके कारण बहुत संकट है । व्यापारी इस पदार्थको दूसरे स्थानसे लाकर वहाँ पहुँचाता है और इसकी मूल लागतमें मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़कर इसे साधारण मूल्यमें जनताके हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है । हाँ, अगर व्यापारीका लक्ष्य अपने कार्य-द्वारा अधिक-से-अधिक धन बटोरना हो, वह लोगोंकी प्रमुख आवश्यकताओंका विचार न कर ऐसे पदार्थोंका प्रचार करता है, जो जनताके भोग-विलासके साधन हों और जिन्हें खरीदनेके लिये आदमी भारी मूल्य भी देनेको तैयार हों या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता । वास्तवमें इसे व्यापार कहना ही भूल है । यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाजमें खूब चल रही हो और कानूनसे अपराध न मानी जाती हो । अस्तु, परहितका ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना लेकर किया हुआ व्यापार सेवा ही है । वास्तविक व्यापार और सेवामें कोई विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बातके लिये प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़े, वह जनतामें स्वास्थ्यके नियमोंका प्रचार करता है और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतुमें ऐसा खान-पान आदि करना रोगोंको आमन्त्रित करना है, वह बीमारोंको जल्दी-से-जल्दी तथा अल्प व्ययसे ही नीरोग करनेके लिये चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाहके लिये लोगोंसे अपने कामकी साधारण फीस क्यों न लेता हो । इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रहके लिये रोगियोंको दवाईके चक्करमें डालता है, मँहगी और खूब मुनाफा देनेवाली विधियोंका उपयोग करता है, यहाँतक कि गरीब और असमर्थ लोगोंसे भी भारी-भारी फीस वसूल करता है और रोगियोंके स्वस्थ न होने तथा मर जानेपर भी अपनी फीसका अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्यको सेवा-कार्य नहीं माना जायगा और इसे करनेवालेको वास्तवमें डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दोंका दुरुपयोग करना है !

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दूकानदार आदिके कार्योंका विचार किया जा सकता है ।

### विशेष वक्तव्य

किसी कार्यके सेवा-कार्य होनेके लिये यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्कामभावसे किया जाय । सेवा करनेवाला अपना काम कर्तव्य समझकर करता है । उसके मनमें यह विचार नहीं आता कि मैं समाजपर कोई उपकार या एहसान करता हूँ । वह अपने आपको समाजका एक अङ्ग मानता है और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदिको समाजद्वारा प्राप्त समझता है । इसलिये वह समाजका हिस्सा चुकाकर उससे यथाशक्ति उऋण होनेका प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमानकी गुंजाइश ही कहाँ ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तवमें धर्मात्मा हैं ।*

* लेखककी 'समाज रचना: सर्वोदय दृष्टिसे' पुस्तकसे ।

इसी प्रकार तुलसीने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस तरह सरल-सीधी भाषामें धर्मका अर्थ प्रेम और परहित-साधन या सेवा है। आदमीको इन्हें अमलमें लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिये।

## सद्व्यवहार ही भगवान्‌की पूजा है

हम सब भगवान्‌की पूजा-उपासना करनेका दम भरते हैं। पर भगवान् हमें दरिद्रनारायणके रूपमें दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम-धर्म-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि एक धनवान्‌के मरनेपर अल्लाह उससे कहता है कि 'ऐ आदमीके बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खानेको नहीं दिया।' आदमी पूछता है, 'तूने मुझसे खाना कब माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है—'मैं मजदूरके रूपमें तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमीके बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है—'कब तूने मुझसे पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है कि 'मैं मेहनत करनेके बाद प्यासा होनेपर तेरे दरवाजेपर गया और तुझसे पानी माँगा, पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहारपर कितनी ठीक बैठती है!

## प्रेममें ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है

असली धर्म माननेवाले व्यक्तिके लिये यह सारा संसार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियोंसे प्रेम करेगा, उसके प्रेमका क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारोंतक ही या उसकी जाति-बिरादरीके लोगोंतक ही सीमित नहीं होता, वह सबमें ईश्वरका स्वरूप देखता है। वह सबसे स्नेहका नाता रखता है, सबको अपने परिवार या कुटुम्बका मानता है। उसके लिये छुआछूतका प्रश्न ही नहीं रहता, वह सबको समभावसे देखता है, सबसे प्रेम करता है, ऊँच-नीचकी थोथी कल्पनाको उसके मनमें स्थान नहीं मिल सकता। वह किसीको कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिये दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आपको पीड़ा पहुँचाना है। वह किसीके मजहबकी निन्दा नहीं करता, वह सबमें समदृष्टि रखता है और सबकी अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करनेको तैयार रहता है।

## सेवामय जीवन

ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव करता है और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधनका मार्ग लोकसेवा है, यही प्रेमका व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा किसीसे प्रेम करनेका अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिये कुछ मीठे शब्द कहकर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्रका हित चाहें और हित-साधनका प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावोंको दूर करनेका उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकासका मार्ग प्रशस्त करें। धर्म-भावनावाले अपने कर्तव्य-पालनमें सब प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं और वे इसमें कोई दुःख अनुभव नहीं करते। उनके हृदयमें सबके लिये माताका-सा प्रेम होता है। वे अपने पासके सब आदमियोंको सुख पहुँचानेमें अपना सुख मानते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

## सेवाके अनेक क्षेत्र

सेवा किसी खास प्रकारके नपे-तुले कामका नाम नहीं है और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम चाहे जो कार्य करें, उसमें परहितका लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिंसा आदि गुणोंके अभ्यासका निरन्तर ध्यान रखें तो

वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा । उदाहरणके लिये व्यापारकी बात लीजिये । प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता । इसे धन कमानेका साधन माना जाता है । परंतु वास्तवमें यह बहुत बड़ी सेवाका कार्य है । एक गाँवमें लोगोंके भोजन-वस्त्र आदिकी प्रमुख आवश्यकताके किसी पदार्थकी कमीके कारण बहुत संकट है । व्यापारी इस पदार्थको दूसरे स्थानसे लाकर वहाँ पहुँचाता है और इसकी मूल लागतमें मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़कर इसे साधारण मूल्यमें जनताके हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है । हाँ, अगर व्यापारीका लक्ष्य अपने कार्य-द्वारा अधिक-से-अधिक धन बटोरना हो, वह लोगोंकी प्रमुख आवश्यकताओंका विचार न कर ऐसे पदार्थोंका प्रचार करता है, जो जनताके भोग-विलासके साधन हों और जिन्हें खरीदनेके लिये आदमी भारी मूल्य भी देनेको तैयार हों या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता । वास्तवमें इसे व्यापार कहना ही भूल है । यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाजमें खूब चल रही हो और कानूनसे अपराध न मानी जाती हो । अस्तु, परहितका ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना लेकर किया हुआ व्यापार सेवा ही है । वास्तविक व्यापार और सेवामें कोई विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बातके लिये प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़े, वह जनतामें स्वास्थ्यके नियमोंका प्रचार करता है और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतुमें ऐसा खान-पान आदि करना रोगोंको आमन्त्रित करना है, वह बीमारोंको जल्दी-से-जल्दी तथा अल्प व्ययसे ही नीरोग करनेके लिये चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाहके लिये लोगोंसे अपने कामकी साधारण फीस क्यों न लेता हो । इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रहके लिये रोगियोंको दवाईके चक्करमें डालता है, मँहगी और खूब मुनाफा देनेवाली विधियोंका उपयोग करता है, यहाँतक कि गरीब और असमर्थ लोगोंसे भी भारी-भारी फीस वसूल करता है और रोगियोंके स्वस्थ न होने तथा मर जानेपर भी अपनी फीसका अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्यको सेवा-कार्य नहीं माना जायगा और इसे करनेवालेको वास्तवमें डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दोंका दुरुपयोग करना है !

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दूकानदार आदिके कार्योंका विचार किया जा सकता है ।

### विशेष वक्तव्य

किसी कार्यके सेवा-कार्य होनेके लिये यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्कामभावसे किया जाय । सेवा करनेवाला अपना काम कर्तव्य समझकर करता है । उसके मनमें यह विचार नहीं आता कि मैं समाजपर कोई उपकार या एहसान करता हूँ । वह अपने आपको समाजका एक अङ्ग मानता है और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदिको समाजद्वारा प्राप्त समझता है । इसलिये वह समाजका हिस्सा चुकाकर उससे यथाशक्ति उऋण होनेका प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमानकी गुंजाइश ही कहाँ ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तवमें धर्मात्मा हैं ।*

* लेखककी 'समाज रचना: सर्वोदय दृष्टिसे' पुस्तकसे ।

# धर्मके स्तम्भ

( ५ )

## शुद्धि ( शौच )

( लेखक—पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक )

महात्मा सुकरात भद्दे शक्लके व्यक्ति थे। एक दिन लोगोंने उन्हें प्रभुसे यह प्रार्थना करते हुए देखा, 'प्रभो! आप मुझे भीतरसे सुन्दर बना दो।' उन्होंने अपनेको भीतरसे इतना स्वच्छ और सुन्दर बना रक्खा था कि लोग बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाया करते थे। बाहरकी असुन्दरता अंदरकी सुन्दरतासे छिप जाती है। जो व्यक्ति बाहरसे स्वच्छ और आकर्षक होते हैं, उनमें प्रकाश होता है; परंतु जो भीतरसे स्वच्छ होते हैं, उनका बाह्य प्रकाश भीतरके प्रकाशसे चमककर लोगोंके नेत्र और हृदय दोनोंको प्रकाशित कर देता है। अतः आवश्यक है कि मनुष्य अपनेको बाहर और भीतर दोनों ओरसे स्वच्छ और पवित्र रक्खे, जिससे उसके शरीर और आत्मा दोनोंमें लोगोंको देवत्वके दर्शन हों। स्वच्छ रहना धर्म है।

शरीरकी, वस्त्रोंकी, घरकी और खानपान आदिकी शुद्धि बाहरी शुद्धि मानी जाती है। ये शुद्धियाँ मनकी स्वस्थ अवस्थाकी द्योतक होती हैं। इसके विपरीत गन्दगी मनकी अस्वस्थताको प्रकट करती है। शुद्धि रखनेसे मनुष्यको स्वास्थ्यलाभ होता और गन्दगी रखनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य स्वास्थ्य और साफ शरीरके प्रसादोंसे वञ्चित हो जाया करता है।

मनुष्यका बाह्य भाग भीतरके भागका आइना होता है, जिसमेंसे मनुष्यका आभ्यन्तर दीख पड़ता है। अतः हमारा बाह्य इतना शुद्ध और निर्मल होना चाहिये, जिससे हमारे भीतरके छोटे-से-छोटे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म धब्बेको भी लोग देख सकें और हमें उस धब्बेको धोनेकी बाह्य प्रेरणा भी मिल सके। बाहरी गन्दगी गरीबीकी उतनी द्योतक नहीं होती, जितनी आलस्य और प्रमादकी द्योतक होती है। आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न गन्दगीमें मनुष्यके गुण छिप जाते या अविकसित रह जाते हैं। गन्दगीमें अधिक कालतक गुणोंका निवास नहीं हुआ करता। बाह्य पवित्रता और सफाईसे मनुष्यके भीतरी गुणोंको बल मिलता और उनमें चमक आ जाती है।

शरीरकी शुद्धि स्नानसे, दाँतोंकी शुद्धि मंजन और दातुनसे, आँखोंकी शुद्धि अंजनसे, हरियालीको देखने, दूसरोंके उत्कर्षको सहन करने और काम्य कुचेष्टासे बचानेसे, कानकी शुद्धि शास्त्रोंको सुनने, तेल डालने तथा उत्तम बातोंमें लगानेसे, जीभकी शुद्धि मांसादि त्याज्य पदार्थोंके परित्याग, शुद्ध और सात्त्विक प्रकृतिके अनुकूल पदार्थोंके ग्रहण तथा उत्तम, मधुर, सत्य और कल्याणकारी बातोंके कहनेसे; हाथों, पैरों आदिकी शुद्धि मिट्टी-जलसे तथा उन्हें अच्छे धर्मयुक्त परोपकारी कामोंमें लगानेसे होती है। वस्त्रोंकी शुद्धि उन्हें साफ-सुथरा रखनेसे होती है। वस्त्रोंके पहननेमें रक्षाका भाव सर्वोपरि और सजावटका भाव गौण रहना चाहिये।

नित्य झाड़ने-बुहारने-लीपने और पोतनेसे घरकी वस्तुओंको साफ-सुथरा तथा व्यवस्थित रखनेसे घरकी शुद्धि होती है। परंतु घरमें रहनेवाले व्यक्ति भीतरसे भी शुद्ध होने चाहिये। यदि घर साफ-सुथरा व्यवस्थित और सजा हुआ हो और उसमें रहनेवाले व्यक्ति साफ-सुथरे और सजे हुए हों और भीतरसे अपवित्र एवं गंदे हों तो वह घर उस सेवके समान घिनौना होता है, जो बाहरसे बड़ा आकर्षक होता परंतु जिसके भीतर कीड़े भरे होते हैं।

मीतरकी शुद्धि बनाये रखना बड़ा जटिल परंतु परिणाममें अमृत-तुल्य होता है । मनु महाराजने बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिका बड़ा सरल उपाय बताया है । वे कहते हैं—

**अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।**
**विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥**

( मनुस्मृति अ० ५ श्लोक १०९ )

जलसे शरीर, सत्यसे मन, धर्मानुष्ठान, तप और विद्यासे आत्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है ।

मन बड़ा चञ्चल होता है, जो इन्द्रियोंके वशीभूत हो मनुष्यको राग-द्वेषादि कुत्सित प्रवृत्तियोंमें फँसाकर उसका अनिष्ट कराता है । अतः मनकी पवित्रताके लिये ईश्वराराधन, ईश्वरकी आज्ञाका पालन, सत्पुरुषोंका सङ्ग, वेदादि सच्छास्त्रोंका अध्ययन और राग-द्वेषादि विकारोंका परित्याग परमावश्यक है । पवित्र शरीरमें पवित्र मनके निवास करनेसे मनुष्यमें अनेक गुणोंका समावेश रहता है और मनुष्य अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ होता है । पवित्र शरीर और मनवाले व्यक्ति ही धर्मात्मा कहलाते हैं । मनकी पवित्रता आत्माको गंदे-से-गंदे स्थानमें भी शुद्ध वायुका श्वास लेनेमें समर्थ बनाती है और संयमसे उसमें शक्ति आ जाती है । जब मनकी पवित्रता इन्द्रियोंपर शासन करती है, तब वह अपने प्रकाशसे जगमगा जाती है ।

योगदर्शनके समाधिपादके ३३वें सूत्रमें चित्तकी निर्मलताके अत्युत्तम उपाय बताये गये हैं । सूत्र इस प्रकार है—

**'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।'**

मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मोंकी सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें भावनाके अनुष्ठानसे चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता होती है ।

राग, ईर्ष्या, परापकार, चिकीर्षा, असूया, द्वेष—ये छः बुराइयाँ चित्तको मलिन कर देती हैं ।

श्रीभोज महाराज इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखते हैं—

'मित्रता, दया, हर्ष, उदासीनता—इन चारोंको क्रमसे सुखियोंमें, दुखियोंमें, पुण्यवानोंमें और पापियोंमें व्यवहृत करना चाहिये । सुखी मनुष्योंको देखकर ऐसा समझनेसे कि यह मेरा ही सुख है, राग और ईर्ष्याका विनाश होता है । दुखियोंपर दया करनेसे घृणा और दूसरोंका अहित करनेका मैल दूर होता है । जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी अपने प्राण प्रिय हैं, इस विचारसे सज्जन पुरुष अपने प्राणोंके समान सबके ऊपर दया किया करते हैं । अपने मनमें यह विचार करे कि 'इस दुखियाको बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आता है, तब हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है और उसके दुःखको दूर करनेकी चेष्टा करे । ऐसा न समझे कि उसके सुख-दुःखसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है ।

जो व्यक्ति धर्ममार्गमें चलते रहते हैं, उनके प्रति हर्षकी भावना करनेसे असूया मलकी निवृत्ति होती है ।

जो व्यक्ति पाप-मार्गमें प्रवृत्त हैं, उनके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेसे घृणा करने तथा बदला लेनेका भाव समाप्त हो जाता है अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले एवं किसी अन्य प्रकारसे अपमान करे, तब मनमें ऐसा सोचे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारसे मेरी कोई हानि नहीं हो रही है । मैं इसके प्रति द्वेष करके अपनेको क्यों दूषित करूँ, इसे स्वयं अपने दुष्कर्मका फल भोगना है ।'

इस प्रकार इन चारों भावनाओंके मनमें बद्धमूल हो जानेसे मनके दूषण नष्ट हो जाते हैं और मन शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है ।

# ममता तू न गयी मेरे मन तें !

## [ मोह, कारण और निवारण ]

( लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट )

[ गताङ्कसे आगे ]

( २ )

यह मोह आखिर है क्या ?

ममता है कौन चीज ?

सच पूछिये तो यह कुछ नहीं है।

केवल भ्रम है, अज्ञान है।

बंद गोभी है। एक-एक पत्ता उधेड़ते जाइये, अन्तमें कुछ न हाथ लगेगा।

जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें हमारी जो आसक्ति है, जो ममत्व है, जो राग है, अनुकूलके प्रति झुकाव और प्रतिकूलके प्रति जो विराग है, उसीका नाम तो 'मोह' है। उसीको तो 'ममता' कहते हैं।

× × ×

यह मेरा है, यह मेरा बना रहे, इससे मेरी भेंट हो जाय, यह मुझे मिल जाय, यह खूब फले-फूले, इसका बाल न बाँका हो,—इस तरहके जो असंख्य भाव रात-दिन हमारे मनमें उठते रहते हैं, जिन्हें लेकर हम आठ पहर चौंसठ घड़ी परेशान रहते हैं, जिनके लिये हम जमीन-आसमानके कुलाबे एकमें मिलाते रहते हैं, जिनकी चिन्तामें हम डूबे रहते हैं, उन्हींको तो 'मोह' कहा जाता है।

× × ×

मोहका यह जाल कितना व्यापक है, सोचनेपर आश्चर्य होता है।

एक-दो चीजोंका मोह हो सो नहीं। मोह असंख्य वस्तुओंका होता है। कहाँतक कोई गिनाये !

× × ×

शरीरका मोह होता है।

विषयोंका मोह होता है।

परिवारका मोह होता है

धन-सम्पत्तिका मोह होता है।

परिग्रहका मोह होता है।

कुर्सीका मोह होता है।

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह होता है।

नामका मोह होता है।

पढ़ने-लिखनेका, डिग्रीका मोह होता है।

ज्ञानका मोह होता है।

स्थानका मोह होता है।

जाति, वर्ण, कुल-परम्पराका मोह होता है।

कल्पित धारणाओंका मोह होता है।

सेवाका मोह होता है।

त्यागका मोह होता है।

संस्थाका मोह होता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका मोह होता है।

जीवन, जगत्‌का मोह होता है।

**'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥'**

× × × ×

शरीरका मोह किससे छिपा है ?

विज्ञान कहता है—

२२२ हड्डियाँ,

धमनियोंमें ७ पौण्ड रक्त,

३० लाख पसीनेकी ग्रन्थियाँ,

मस्तिष्क और रीढ़में १४० अरब शिराएँ,

सिरपर ९० हजारसे १ लाख ४० हजारतक बाल ! =यह शरीर !

× × ×

दार्शनिक कहते हैं—

**'क्या शरीर है ? शुष्क धूलका थोड़ा-सा छबि जाल।**
**उस छविमें ही छिपा हुआ है, वह भीषण कङ्काल ॥'**

क्या रक्खा है इस शरीरमें ?

हाड़-मांस, रक्त-मज्जा, थूक-खखार, मल-मूत्रसे भरा गंदा बर्तन !

× × ×

साधु-संत कहते हैं—

**'जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।**
**काँचे कुंभ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई ॥'**

**'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचतत्त्व यह रचेउ सरीरा ॥'**

**'साधो यह तन मिथ्या जानो।**
**संग तिहारे कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो ॥'**

× × ×

यह जानते हुए भी कि यह शरीर कुछ नहीं है, पानीभरी खाल है, हमने इसे अपना जीवन-सर्वस्व बना रक्खा है !

जमीनपर पड़ी कुछ मिट्टी इस शरीरपर लेप लेनेके लिये, इसका वजन बढ़ानेके लिये हम रात-दिन बेचैन रहते हैं।

जरा भी, किसी भी अङ्गमें कोई शिकायत जान पड़े कि हम बेतहाशा दौड़ते हैं—हकीम, डाक्टरोंके पास, मानो वे इस शरीरको जरा और मृत्युसे, रोग और बीमारीसे बचा ही लेंगे !

साँस निकलने-निकलनेतक हम आशावान् बने रहते हैं—शायद कोई डाक्टर इस शरीरको बचा ले !

**कफ पित वात कंठपर बैठे सुतहिं बुलावत कर तें !**
**ममता तू न गयी मेरे मन तें !!**

× × ×

इस शरीरके मोहमें पड़कर हम क्या नहीं करते ?

इसकी रक्षाके लिये, इसे स्वस्थ बनाये रखनेके लिये, इसे चिकना, चुपड़ा और सुन्दर बनाये रखनेके लिये हम बेचैन रहते हैं !

इस शरीरकी पूजा, इसकी आराधना हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठी है।

इसके लिये हमें रोटी-दाल, घी-दूध, मक्खन-मलाई, 'विटामिन' और 'कैलोरी' नहीं, तर माल भी चाहिये, माल-मलीदा भी चाहिये, च्यवनप्राश और शक्तिवर्द्धक 'टानिक' भी चाहिये।

इस शरीरको कहीं सर्दी न लग जाय, निमोनिया न हो जाय, ब्रंकाइटिस न हो जाय, इसका हमें पूरा ख्याल रहता है। इसके लिये हम मनो ऊनी कपड़े रखते हैं। गद्दे-रजाइयाँ रखते हैं। लोई-कम्बल रखते हैं। तूश-पश्मीना रखते हैं।

× × ×

गर्मियोंमें इस शरीरको धूप न लग जाय, लू न लग जाय,—इसका हम भरपूर ध्यान रखते हैं। गर्मी इस शरीरको कहीं क्षीण न कर दे, इसका हम पूरा एहतियात रखते हैं।

बिजलीके पंखों और खसकी टट्टियों, 'कूलर' और 'एयरकंडीशण्ड'—वायुनियन्त्रित कमरोंकी हम पूरी व्यवस्था करते हैं। बरफका शर्बत, लस्सी और ठंडाई आदि तो मामूली चीजें हैं। इनकी माँग तो रिक्शा खींचनेवाले और झल्ली उठानेवाले तक करते हैं !

× × ×

वर्षासे बचावके लिये हम बढ़ियासे बढ़िया मकान बनवाते हैं। पानीसे भीगकर कहीं हम बीमार न पड़ जायँ—इसकी चिन्ता किसे नहीं रहती ?

× × ×

जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो,—कोई भी ऋतु हो, शरीरकी रक्षाके लिये हम पूरी सावधानी रखते हैं। उसे स्वस्थ रखनेके लिये, हृष्टपुष्ट रखनेके लिये, सुन्दर और आकर्षक बनाये रखनेके लिये हम पानीकी तरह पैसा बहाते हैं। यहीं तक नहीं, मौका पड़ जाय तो इस शरीरके मोहके आगे हम स्त्री-पुत्र, बाल-बच्चोंतकका बलिदान कर डालते हैं। रुपया-पैसा तो हाथका मैल ही ठहरा।

× × ×

बात है उन दिनोंकी, जब जापानी सिंगापुरतक आ गये थे।

जापानियोंने एक प्रसिद्ध बैंकपर अपना कब्जा कर लिया।

उस बैंकमें कितने ही भारतीय क्लर्क भी थे। एक क्लर्कने आपबीती सुनाते हुए कहा कि जापानियोंने बैंकमें आते ही सबसे पहले सोने-चाँदीकी सिलोंपर अधिकार जमाया। फिर हमसे बोले—'तुममेंसे जो लोग नौकरी करना चाहें, कर सकते हैं। जाना चाहें उन्हें अपनी सीमातक हम पहुँचा देंगे। कौन रहेगा, कौन जायगा ?'

जो लोग भारत लौटनेको तैयार हुए उनमें उक्त सज्जन भी थे। जापानी उन्हें नीचे ले गये खजानेमें—'उठा लो ये कागजके टुकड़े जितने चाहो।' कागजी सिक्केका—नोटोंका मूल्य ही क्या था उनकी दृष्टिमें।

इन्हें उठाते-उठाते डर लग रहा था कि कहीं बन्दूकका कुन्दा न जमा दें कि क्यों इतना ज्यादा पैसा समेट रहा है।

पूछा—'तुम्हारा परिवार भी है क्या ?'

परिवार था तो जरूर, पर कहें कैसे ? यहाँ तो अपना शरीर बचानेकी धुन थी। बच्चे मरें या जियें।

आखिर ठीक अपने घरके सामनेसे होकर निकल आये। स्त्री-बच्चोंको वहीं छोड़ दिया। जापानियोंने सबको सुरक्षितरूपसे अपनी सीमातक पहुँचा दिया।

× × ×

बादमें ये महाशय अनेक कष्ट भुगतकर बर्मासे होकर भारत पहुँचे !

× × ×

समयके अनुकूल जवानी तेजीसे खिसक रही है, पर हम उसे बाँध रखनेको बेचैन हैं। बालोंमें सफेदी जहाँ-तहाँ झाँकी मारती है, हम तुरत खिजाब तलाश करते हैं, आँवलेका तेल ले आते हैं और ऐसे विज्ञापनोंपर जी खोलकर पैसा खर्च करते हैं जो इस बातकी गारंटीका दम भरते हैं कि सफेद बाल जड़से काला हो जायगा। किसीके मुँहसे हम सुनना भी पसंद नहीं करते कि हम बूढ़े होते चल रहे हैं। कोई हमें 'बुढ़ऊ दादा' कह भर दे फिर देखिये हमारा ताव। कुछ न हो तो हम केशवका यह दोहा रटने लगते हैं।

> 'केसव केसन अस करी जस अरिहूँ न कराँहि।
> चंदबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाँहि ॥'

शरीरका कैसा थोथा मोह !

× × ×

उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, हँसते-खेलते हमें एक ही चिन्ता सताती है—हमारा यह शरीर चंगा रहे, हट्टा-कट्टा और स्वस्थ रहे, आकर्षक और चिकना-चुपड़ा रहे !

× × ×

शरीरके इस मोहको लेकर ही तो आज सारे संसारका अधिकांश व्यापार चलता है।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, मौज करनेके जितने साधन हैं, वे हैं तो सब इसीके लिये न !

जिधर दृष्टि डालिये, हमारी देहासक्तिको संतुष्ट करनेकी ही तैयारी दीख पड़ेगी।

× × ×

देहका मोह हममें न हो तो—

भूखों मर जायँ ये हलवाई जो चमचम और गुलाबजामुन, रसगुल्ला और मोहनभोगके बलपर अपनी तिजोरी भरते हैं।

दीवाला निकल जाय उन कम्पनियोंका जो रात-दिन पफ और पाउडर, क्रीम और पोमेड, शृङ्गार और फैशनके नामपर अपना 'बैंक बैलेंस' बढ़ाती रहती हैं।

तबाह हो जायँ ये डाक्टर और वैद्य, हकीम और

जर्राह, जिनकी फीसका दारोमदार इस शरीरकी ही व्याधियोंपर है।

बंद पड़ी रहें पैंसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनकी शीशियाँ, च्यवनप्राश और मकरध्वजके डिब्बे, यदि हम शरीरके मोहके पीछे पागल न हों।

× × ×

विषयभोगोंके मोहकी तो कहानी ही निराली है।

यह खा लूँ, यह पी लूँ, यह चख लूँ, यह देख लूँ, यह पढ़ लूँ, यह सूँघ लूँ, यह छू लूँ, यह सुन लूँ, इसका उपभोग कर लूँ, इसे प्राप्त कर लूँ—इसी तरहके प्रोग्राम हम रात-दिन बनाते रहते हैं। रात-दिन इन्द्रियोंकी तरह-तरहकी फर्मायशें पूरी करनेमें जुटे रहते हैं। मजा यह कि वे कभी पूरी हो नहीं पातीं। हों भी तो कैसे?

'बुझे न काम अगिन' तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें॥

× × ×

और परिवारका मोह?

वह कौन किसीसे कम है?

यह मेरा बाप है यह मेरी माँ, यह मेरा चाचा है यह मेरी चाची, यह मेरा दादा है यह मेरी दादी, यह मेरा मामा है यह मेरी मामी, यह मेरा फूफा है यह मेरी फूफी, यह मेरा भाई है यह मेरी भावज, यह मेरी बीबी है यह मेरा शौहर, यह मेरा बहनोई है यह मेरा साला, यह मेरा ससुर है यह मेरी सास, यह मेरी बेटी है यह मेरा दामाद, यह मेरा बेटा है, यह मेरी पतोहू, यह मेरा भतीजा है यह मेरा भानजा, अह मेरा सगा है यह मेरा सम्बन्धी, यह मेरा कुटुम्बी है यह मेरा रिश्तेदार।....

कोई पार है इन सगे-सम्बन्धियोंकी सूचीका!

एक-एकके प्रति अपार मोह।

× × ×

अर्जुन खड़ा है कुरुक्षेत्रके मैदानमें।

सगे-सम्बन्धियोंकी पलटन उसकी दोनों ओर है। श्रीकृष्णसे पूछता है—'क्या करूँ मैं श्रीकृष्ण? लड़ूँ इनसे? इन्हें देखकर तो—

**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥**
**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।**

मेरा अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे खिसका जा रहा है, त्वचा जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है, मुझे चक्कर आ रहा है, मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है।

इन स्वजनोंको मैं मारूँ?

जिनके लिये राज्य प्राप्त करनेको मैं लड़ने आया हूँ, वे ही यहाँ कटनेको तैयार खड़े हैं! इन्हें मारकर, इन्हींकी लाशोंपर मैं अपना प्रासाद खड़ा करूँ? छिः छिः, न होगा मुझसे ऐसा!

और फिर यह भी तो है कि ये 'लोभोपहतचेतसः'। इनकी आँखोंपर लोभकी पट्टी बँधी है। जिससे न इन्हें कुलक्षयका दोष दिखायी पड़ता है, न मित्रद्रोहका पाप।

पर हम क्यों इन्हींकी तरह मूर्ख बन जायँ? हम क्यों यह बात भूल जायँ कि कुलक्षयसे अधर्म फैलेगा, स्वैराचार बढ़ेगा, वर्णसंकरता आयेगी, कुलधर्म नष्ट होंगे—ऐसा भयंकर पाप हम क्यों करें?

माना, इनकी अक्लपर पत्थर पड़ गये हैं, ये आततायी हैं, पर इन्हें मारकर हमें मिलेगा क्या? राज्यसुखके लिये हम भी इनकी तरह अंधे क्यों बनें? ऐसे रक्तरञ्जित राज्यको लेकर ही हम क्या करेंगे? जाने दो श्रीकृष्ण, न चाहिये हमें राज्य, न चाहिये हमें सुख। भीष्म-द्रोण-जैसे पूज्य गुरुजनोंको मारनेसे तो कहीं अच्छा है कि हम भीख माँगकर अपना पेट भर लें।

रहने दो श्रीकृष्ण! नहीं लड़ूँगा मैं!

× × ×

प्रबल प्रतापी वीर अर्जुनने डाल दिये अपने हथियार, पकड़ लिये श्रीकृष्णके चरण और रोकर कहा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

× × ×

इस तरह जब किंकर्तव्यविमूढ होकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे मार्ग दिखानेकी प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने सारी गीता ही कह डाली । उसे सुनकर अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

'अच्युत ! तुम्हारी कृपासे अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे संशय मिट गये । अब मैं तैयार हूँ तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये ।'

× × ×

अर्जुनकी तरह हमें भी मोह होता है, रोज होता है, कदम-कदमपर होता है, हृदयरूपी कुरुक्षेत्रमें हरदम 'यह मेरा है' 'यह तेरा है' ऐसा द्वन्द्व चलता रहता है, पग-पगपर हम बहक जाते हैं, पर कौन है जो हमारी मोहकी पट्टीको खोलकर श्रीकृष्णकी तरह पूछे—

'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।'

'क्यों धनंजय ! अज्ञानसे पैदा हुआ तेरा मोह मिटा क्या ?'

पर अर्जुनकी तरह हम श्रीकृष्णको अपने घोड़ोंकी लगाम सौंपते कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण तो हम सबके हृदयमें विराजमान हैं, हम उनसे मोह-निरसनकी प्रार्थना करें भी तो ?

'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ?'

सच तो यह है कि मोहके पाशमें हमने अपने आपको इतना जकड़ रक्खा है कि बार-बार ठोकर खाकर भी हम चेतनेका नाम नहीं लेते !

× × ×

कहते हैं कि एक बूढ़ा अपने दरवाजेपर पड़ा-पड़ा अपनी किस्मतको रो रहा था कि बेटा बड़ा नालायक है जो जब देखो तब लात-घूँसोंसे उसकी पूजा करता रहता है !

उधरसे होकर एक साधु निकले ।

बूढ़ेको रोते देख लगे समझाने—'छोड़ो बाबा, इस मोहजालको । कौन किसका बाप, कौन किसका बेटा ! चलो मेरे साथ । भगवान्‌का भजन करके जीवन सफल करो ।'

बूढ़ा बिगड़ा—'चल चल ! बड़ा आया है ज्ञान बघारने । क्या हुआ बेटा मारता है ! 'मेरा' है, तब न मारता है ! तुझे किसने बुलाया था पंचायत करने ?'

'माफ करो बाबा !'—कहकर साधु चल दिये । हम इस बूढ़ेसे कम थोड़े ही हैं !

× × ×

## झूठी प्रीति

जगतमें झूँठी देखी प्रीत ।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं हित सों बाध्यों चीत ।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ यह अचरज की रीत ॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत सिख दै हार्‌यो नीत ।
नानक भव-जल पार परै जो गावै प्रभु के गीत ॥

—गुरु नानक

# दिव्य दर्शन

( लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी' )

मिट्टीको क्या देखते हो ? भगवान् राम-कृष्णके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जलको क्या देखते हो ? भगवान् नारायणके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अग्निको क्या देखते हो ? भगवान् गणपतिके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

वायुको क्या देखते हो ? भगवान् शङ्करके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आकाशको क्या देखते हो ? भगवान् ब्रह्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

मनको क्या देखते हो ? भगवान् चन्द्रदेवके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

बुद्धिको क्या देखते हो ? भगवान् सूर्यके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अहंकारको क्या देखते हो ? भगवती लक्ष्मीके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जीवको क्या देखते हो ? ॐकारके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आत्माको क्या देखते हो ? परमात्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

श्रीविग्रहको क्या देखते हो ? द्रष्टा, दृश्य और दर्शनको हटाकर सर्वमय हो जाओ । यही दिव्य दर्शन है । अरे, दर्शन क्या दृङ्मात्र है ।

# कल्याणकारी प्रेरणा

( लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा )

( १ )

## स्वर्गके अधिकारी

दो व्यक्ति स्वर्गको चले । वे फाटकपर पहुँचे तो पहला आदमी जल्दी-जल्दी चलने लगा । वह सीधा होकर अकड़ा हुआ, गर्वसे आगे बढ़ रहा था, इस विचारसे कि देखनेवाले यह समझ लें कि मैं स्वर्गमें प्रवेश पानेका अधिकारी हूँ, क्योंकि मेरा भी अस्तित्व है, मैंने बहुत दान-पुण्य, तप और ज्ञानोपार्जन किया है । जब यह व्यक्ति ठीक स्वर्गके फाटकके पास पहुँचा और अगला कदम रखते ही वह स्वर्गके भीतर पहुँच जाता, तब उसने देखा कि स्वर्गका दरवाजा बहुत छोटा है । वह बोला, 'अरे, स्वर्गकी बड़ी महिमा सुनकर आया हूँ । यद्यपि धर्मग्रन्थोंमें लिखा है कि स्वर्गका द्वार सँकरा ( कम चौड़ा ) है । अस्तु संकीर्ण तो है, परंतु किस मूर्खने इसे इतना छोटा क्यों बना दिया ?'

यह व्यक्ति स्वर्गके भीतर न जा सका । दूसरा व्यक्ति पीछे था । वह धीरे-धीरे चल रहा था, उसके मनमें किसी बांतका गर्व न था । मानो उसने स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये कुछ कर्म न किया हो । वह विनीत भाव धारण किये धीरे-धीरे चला आ रहा था कि देखनेवाले कभी नहीं सोच सकते कि यह व्यक्ति भला स्वर्ग पायेगा । वह स्वर्ग-द्वारपर जब पहुँचा, तब उसे प्रसन्नता हुई कि मैं कम-से-कम द्वारतक तो पहुँच ही गया । फिर उसने देखा स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा है । वह सिर झुकाकर घुस गया ।

संसारमें कितने ही दम्भी साधक और धर्मात्मा-पुण्यात्मा लोग हैं, जो दान-पुण्य-तप करते, चमत्कार दिखाते, ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, हजारों लोगोंको माल-टाल खिलाते और यश-कीर्तिके लिये सब कुछ करते यह समझते हैं कि मैं बहुत धर्म और सत्कर्म कर रहा हूँ। वे लोगोंसे अपनी तारीफ सुनकर, प्रशंसाकी पुस्तकें और अखबार छापकर अपने कर्मोंको प्रकाशित करके प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि बस मैं स्वर्गके दरवाजेपर ही खड़ा हूँ। इस अहंकारकी भावनासे वे फूलकर मोटे और लम्बे हो जाते हैं, परंतु स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा होनेके कारण वे प्रवेश नहीं पा सकते।

स्वर्गका द्वार जिसने संकीर्ण और छोटा बनाया है वह मूर्ख नहीं है। जिसके हृदयमें अपने कृत्योंके प्रति अभिमान या अहंकार नहीं है, जो नम्रतापूर्वक व्यवहार करता है और सिर झुकाकर चलता है वही स्वर्गद्वारमें प्रवेश करता है।

**'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।'**

भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके पर्याय महात्मा ईसा-मसीहने भी कहा है, 'जो नम्र है वही परम पद पायेगा। अपना अहंकार छोड़कर आओ।'

( २ )

## ईश्वरकी दूकान

### ( दयाका भण्डार )

कहा जाता है लक्ष्मी और सरस्वतीका वैर है, उसी प्रकार धर्म और व्यापारका साथ नहीं निभता। अर्थात् धर्मके अनुसार चलनेसे व्यापारमें सफलता और उन्नति नहीं होती; क्योंकि व्यापारमें झूठ बोले बिना नफा नहीं होता और धर्मसे झूठ बोलना पाप है। रहीम कविने भी कह दिया है—

**रहिमन अब मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।**
**साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम॥**

अमेरिकामें एक किसानने अपनी जमीन बेचकर पासके नगरमें एक छोटी-सी दूकान लगायी—गल्ला, किराना और बिसातखानेकी। दूकानके बाहर उसने एक तख्ती टाँगी, जिसपर लिखा—'ईश्वरकी दयाका भण्डार'। उन शब्दोंके नीचे लिखा था, 'परमात्मा कल जैसा था, आज वैसा ही है और हमेशा एक-सा रहता है।' अर्थात् परमात्मा सदा एकरस रहता है। दूकानके भीतर एक दूसरी तख्ती लगी थी, उसमें लिखा था, 'वस्तुएँ खरीदके भावपर बेची जायँगी, मुनाफा नहीं लेंगे। दूकान-खर्चके लिये आप अपनी इच्छाके अनुसार कुछ पैसा 'पेटी' में डाल सकते हैं।'

नयी दूकान खुली थी—लोग आये, गये, देखा, सुना। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ समझा—झक्की है, उल्लू है, बुद्धू है, अजीब आदमी है, भला ऐसे भी कहीं व्यापार चला है? कुछ दिन ऐसी ही हवा रही। लोग आने लगे, सौदा खरीदने लगे और वापस जाते समय दरवाजेपर लगी 'पेटी'में कुछ पैसा डाल देते। साल भर बाद हिसाब हुआ तो कई हजारका मुनाफा था।

यह बहुत वर्षोंकी बात है। उसकी दूकान चल निकली और लाखोंका नफा हुआ। दूकान बहुत बड़ी करनी पड़ी और उसमें कई विभाग खोलने पड़े।

चाहे व्यापार हो चाहे धर्मकी बात हो। झूठ बोलनेसे मनुष्यको एक बार धोखा हो, दो बार ठगा जाय, परंतु हमेशा नहीं ठगा जा सकता, न धोखा हो सकता। सच बात सच होती है, उससे कभी धोखा नहीं होता।

दुनियाँकी बातोंसे धोखा हो जाय, लोग धोखा दे दें, किंतु ईश्वरसे कभी धोखा नहीं होता।

# श्रद्धाकी विजय

## [ कहानी ]

( लेखक—श्री'चक्र' )

'तुम यहाँ ? इस समय ? इस स्थितिमें ?' दो क्षण स्वर रुका—'घर जाओ ! मेरी ओर मत देखो, घर चले जाओ ! माँ तुम्हारे लिये व्याकुल होगी ।'

'वह माँके पास ही जा रहा है !' एक अट्टहास करके भैरव स्वामी बोले—'वह यहाँसे हिल नहीं सकता !'

'मैं कहता हूँ तुम घर जाओ !' सुनन्द पण्डितके लिये जैसे भैरव स्वामीकी वहाँ सत्ता ही नहीं थी । वज्रकाय, सुदीर्घाकार रक्तवसन, जलते नेत्र, सदा हाथमें सिन्दूर-रंजित त्रिशूल लिये रक्त चन्दनका त्रिपुण्ड्र लगाये भैरव स्वामी—वे भैरव स्वामी जिनकी दृष्टिसे मनुष्य तो क्या सिंह भी काँप जाय, इस समय खड्ग उठाये खड़े थे और सुनन्द पण्डित उनकी ओर देखते तक नहीं थे । उनके लिये जैसे भैरव स्वामी नितान्त उपेक्षणीय थे । अत्यन्त दृढ़ स्वरमें कह रहे थे वे—'माँ कभी सामान्य नहीं होती । वह जगन्माताका स्वरूप है और वह बुलाती है तो तुम्हें कोई रोक कैसे लेगा । जाओ ! माँ बुलाती है तुमको ।'

'इसे चामुण्डाने बुलाया है !' भैरव स्वामीने कठोर स्वरमें कहा । 'यह न स्वयं आया है, न जा सकता है ।'

'आपकी क्रूरताने बुलाया कहिये !' सुनन्द पण्डितने अब देखा भैरव स्वामीकी ओर और जैसे छोटे बच्चेको झिड़क रहे हों झिड़का—'जगदम्बाके सम्मुख अपनी क्रूरताकी इस विडम्बनाका प्रदर्शन करनेमें आपको लज्जा नहीं आती । आप इसे रोक नहीं सकते ! घर जाओ महादेव !'

तरुण महादेव, स्वस्थ बलिष्ठ पुरुष, अपने अखाड़ेमें दसको जोर कराके थका देनेवाला पहलवान—जैसे उसमें रक्तकी बूँद नहीं है । वह श्वेत हो गया है । निष्कम्प ठूँठ-सा खड़ा है । न उसके नेत्रोंसे अश्रु झरता, न शरीर काँपता । पता नहीं क्या हो गया है उसे । उसकी कटिमें उसकी न धोती है, न लँगोट । एक लाल वस्त्रखंड कटिमें ऐसे लिपटा है जैसे दूसरेने लपेट दिया हो । मस्तकपर रक्त चन्दन लगा है और गलेमें लाल कनेरके फूलोंकी माला है । उसके सम्मुख प्रज्वलित अग्नि है और दूसरे उपकरण हैं । साक्षात् यमराजके समान भैरव स्वामी खड्ग लिये खड़े हैं । स्वामीका त्रिशूल पासमें गड़ा है । वे पूजन कर चुके हैं और महाबलि देनेको उद्यत हैं ।

'घर जाओ महादेव ! माँ बुलाती है !' सुनन्द पण्डितने आदेशके स्वरमें कहा । महादेवके भयसे फटे नेत्रोंकी पलकें गिरीं और वह जैसे मूर्छासे जगा हो, हिल उठा । एक क्षण तो बहुत होते हैं, महादेव तो ऐसे मुड़ा और इतनी शीघ्रतासे भागा जैसे सिंहको देखकर कोई प्राण बचाने भाग जाय ।

'अच्छा !' भैरव स्वामीके अंगार-नेत्र प्रज्वलित हो उठे । उन्होंने हाथका खड्ग रख दिया और पास पड़ी पीली सरसोंसे कुछ दाने उठाये ।

'ठहरिये ! जगदम्बाके सामने अधिक धृष्टता अनर्थ करेगी भैरवजी !' पण्डित सुनन्दके स्वरमें रोष नहीं था; किंतु तेज पूरा ही था ।

'जगदम्बा ! कौन जगदम्बा ?' भैरव स्वामीने अट्टहास किया । 'चामुण्डा नित्य अजातपुत्रा है । रक्तबीजके रक्त-कणोंको चाट जानेवाली महाकाली······।'

'परंतु वह शक्ति है, जगन्माता महाशक्तिका अंश ।' सुनन्द पण्डितने उसी तेजपूर्ण स्वरमें कहा ।

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा चामुण्डा !' भैरव स्वामी क्रोधसे अधर काटते गरज उठे—'तू देख सकेगा उसे ।'

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा !' सुनन्द पण्डितने तनिक स्मितसे कहा—'माताका रूप कुछ हो, अपने शिशुके लिये वह सदा सानुकूला स्नेह-भरिता सौम्या है ।'

'घूँ, घुर्र !' जैसे सुनन्द पण्डितकी बातका समर्थन ही हो गया हो । भैरव स्वामीने देखा और मुख घुमाकर सुनन्द पण्डितने भी देखा कि काली खोहके द्वारसे सिंहनी भीतर चली आ रही है । उसके दोनों शिशु बार-बार उसके सम्मुख कूद आते हैं और पंजोंसे उसके मुख और नाकको नोचनेका प्रयत्न करते हैं । सिंहनी मुख फाड़कर केवल 'घुर्र' कर रही है और शिशु तो उसके खुले मुखमें पञ्जे डालकर उससे खेलते, उसकी गतिको रुद्ध करते कुदक रहे हैं ।

× × ×

'मैं मानता हूँ कि शास्त्रीय ग्रन्थोंमें पशु-बलिके विधान हैं।' सुनन्द पण्डितने शान्त स्वरमें कहा—'परंतु ऐसे वचन पर्याप्त मिलते हैं जो बतलाते हैं कि ऐसे विधान विधिवाक्य नहीं हैं।'

'विधि-वाक्य नहीं हैं ! आप कहना क्या चाहते हैं !' पण्डित-समाजमेंसे एकने तर्क किया—'विधान तो सदा विधि-वाक्य होता है।'

'ऐसा नहीं है; रोगीके लिये अनेक बार ऐसी ओषधिका विधान होता है, जो सबके लिये उपयुक्त नहीं होती। हानिकर भी हो सकती है।' सुनन्द पण्डित आजकी मण्डलीमें अकेले हैं। वे भी अन्य श्रद्धालु ब्राह्मणोंके समान भगवती विन्ध्य-वासिनीको नवरात्रमें दुर्गापाठ सुनाने आये हैं। परंतु वे बलि-प्रथाके समर्थक नहीं; इससे उनको प्रायः अन्य वर्ग व्यङ्ग सुनाया करता है और आज महाष्टमीका पाठ पूर्ण करके तो सबने उन्हें मण्डपमें ही घेर लिया है।

'हम सब रोगी हैं !' एक युवकने पूछा।

'शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पशु-बलिका विधान हिंसाको नियन्त्रित करनेके लिये है।' सुनन्द पण्डितने युवकके प्रश्नका उत्तर न देकर अपनी बात स्पष्ट की। 'जो मांसाहारके बिना न रह सकते हों, उन राजस-तामस पुरुषोंकी हिंसावृत्ति अनर्गल पशुहत्या न करे, इसलिये उन्हें शास्त्रने आज्ञा दी कि वे भगवतीका सविधि पूजन करके; प्रोक्षित पूजित पशुकी बलि दें और केवल उसीका मांस प्रसाद मानकर ग्रहण करें।'

'परंतु जो मांसाहारी नहीं हैं, वे महाशक्तिकी पूजा ही न करें।' युवकने उत्तेजित होकर कहा।

'महाशक्ति जगन्माता, जगज्जननी हैं। उनकी पूजा तो प्रत्येकको करनी चाहिये !' सुनन्द पण्डितने केवल दृष्टि उठाकर देखा भगवती विन्ध्यवासिनीकी ओर—'किंतु जगन्माताकी पूजा उनके शिशुओंके रक्त-मांससे नहीं हुआ करती। माता रक्ताशना नहीं और न वह पशुबलिसे प्रसन्न होती है।'

'आपको तो वैष्णव होना चाहिये था।' एक अन्य पण्डितने व्यङ्ग किया—'व्यर्थ आते हैं आप विन्ध्याचल।'

'मैं व्यर्थ तो नहीं आता। माताके श्रीचरणोंमें अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आता हूँ और जानता हूँ कि शिशुकी मुट्ठीकी धूलिसे भी माँ प्रसन्न होती है।' अब सुनन्द पण्डितके नेत्र भर आये थे—'परंतु मुझे खेद होता है कि हम यहाँ भगवती कौशिकीके सम्मुख बैठकर पशुबलिकी चर्चा करें। विन्ध्याचलकी त्रिकोणमात्रामें भगवती विन्ध्यवासिनी महाशक्ति कौशिकी महालक्ष्मी-स्वरूपा हैं, यह जानकर भी विद्वद्वर्ग........।'

'तो आप महाकाली चामुण्डाको भी बलि देना बंद कर देना चाहते हैं !' एक साँवले रंगके पण्डितने पूछा।

'यदि मेरी बात आप सब मान सकें।' सुनन्द पण्डितने स्थिर स्वरमें कहा—'इससे देवी चामुण्डा रुष्ट नहीं होंगी। उन्हें परम संतोष होगा।'

'हम आपकी बात मान लेंगे यदि आप भैरव स्वामीको मना सकें।' युवकने व्यंग किया—'आज रात्रिके द्वितीय प्रहरमें कालीखोह चले जाइये। भैरव स्वामी आज महाबलि अर्पित करेंगे।'

'मैं प्रयत्न करूँगा।' सुनन्द पण्डितकी बातने सबको चौंका दिया। यह वृद्ध ब्राह्मण सच्चा है और हठी है। कहीं सचमुच कालीखोह चला गया........।'

'आप मुझे क्षमा करें !' युवकने तो हाथ जोड़े—'मैंने केवल व्यंग किया। आप जानते ही हैं कि भैरव स्वामी वीर-प्राप्त सिद्ध हैं और उग्र कापालिक हैं।'

'शुम्भ-निशुम्भका मर्दन करनेवाली जगन्माताके हम पुत्र हैं।' सुनन्द पण्डितने युवककी ओर देखा—'आप कातर क्यों होते हैं ? वहाँ देवी चामुण्डा भी माताकी ही शक्ति हैं और भैरव स्वामी तो उनके सेवकमात्र हैं—पथभ्रष्ट सेवक ! मैं चेष्टा करूँगा कि वे सत्पथ देख सकें।'

'आजकी महाबलि बना यह ब्राह्मण !' पण्डितसमाजमें क्षोभ और दुःख दोनों था। सुनन्द पण्डितको वे समझाकर हार गये। इतना साहस किसीमें नहीं था कि उनके साथ रात्रिमें कालीखोह जा सके। उग्र कापालिककी शक्ति—वह तो पूरे नगरकी बलि दे सकता है। जान-बूझकर मृत्युके मुखमें कौन जाय।

रात्रिके प्रथम प्रहरके बीत जानेपर सुनन्द पण्डित जब चलने लगे, उन्हें महादेवकी वृद्धा माता मिली। वह पुकार रही थी—'महादेव ! महादेव ! अरे कहाँ चला गया ?'

पण्डित ध्यान न देते हुए उसकी पुकारपर 'कहीं गया होगा महादेव, अभी कौन इतनी रात बीती है कि बुढ़िया उसके लिये चिन्ता कर रही है, सोचते हुए आगे बढ़ गये। किंतु कुछ आगे महादेवके अखाड़ेका एक युवक मिला। उसने कहा—'महादेव गुरु

आज वनकी ओर जा रहे थे। पता नहीं क्या हुआ था उन्हें। मैंने बहुत पुकारा; किंतु बोलते ही नहीं थे।

'कालीखोहकी ओर तो नहीं गया?' सुनन्द पण्डितने पूछ लिया।

'जाते तो उसी मार्गपर थे।' उत्तर मिला और सुनन्द पण्डितके पैरोंमें लगभग दौड़ने-जैसी गति आयी। युवक उन्हें आश्चर्यसे देखता रह गया। 'महाष्टमी......महाबलि...महादेव...उग्र कापालिक भैरव स्वामी......!' विचारोंका अंधड़ चल रहा था वृद्ध पण्डितके मस्तिष्कमें और महादेव-को पुकारती वह वलीपलित, क्षीणदृष्टि, नमितकाय उसकी वृद्धा माता उन्हें बार-बार स्मरण आ रही थी।

× × ×

'उसे क्या देखता है। वह सिंहनी तो शिशुओंके साथ महाबलिके प्रसादका थोड़ा-सा रक्त चाट लेनेकी तृष्णा लिये आयी है।' भैरव स्वामीने हाथकी सर्षप एक ओर फेंक दी कुछ ओष्ठ हिलाकर और गरज उठे—'अब देख इसे।'

आधे पलमें एक पूरा नर-कंकाल कहींसे आ खड़ा हुआ। कंकालमें न चर्म था, न स्नायु, न अँतड़ियाँ। मनुष्यकी हड्डियोंका पूरा कंकाल और चलता-फिरता सजीव। उसके दोनों नेत्रोंके गड्ढे अग्निके समान जल रहे थे।

'बस! यह वेतालमात्र तुम्हारी शक्ति है!' सुनन्द पण्डितमें न कम्प आया, न भय, न हिचक। चामुण्डा पीठ-की ओर एक बार दृष्टि करके फिर उन्होंने देखा दूर पीछेकी ओर भैरव मूर्तिको—'इसका स्वामी तो वह खड़ा है दण्ड लिये और तुम्हारा यह 'वीर' जानता है कि मेरी ओर देखने-का साहस यह करे तो भैरवका कालदण्ड इसकी कपालक्रिया कर देगा। माताके सामने उसका यह गण......।'

'देख महादेव आ रहा है!' इन कुछ क्षणोंमें भैरव स्वामीने दूसरी बार सर्षप फेंक दी—'तू मन्त्रज्ञ है, वृद्ध है, ब्राह्मण है। मैं तुझे दया करके छोड़ देता हूँ। इस वीरको अपनी वाम भुजा काटकर दे दे और चुपचाप चला जा यहाँसे।' खड्ग उठाकर स्वामीने सुनन्द पण्डितकी ओर बढ़ाया।

'महादेवको माता बुलाती है, उसे कोई लौटा नहीं सकता।' पण्डितके स्वरमें दृढ़ विश्वास था। आपने मन्त्र सिद्ध किये हैं, मैं तो माताका नाम जानता हूँ जो सबसे महान् मन्त्र है!'

'तू मानेगा नहीं!' दाँत पीसकर भैरव स्वामीने सर्षप उठायी, उनके ओष्ठ हिले और सर्षप उस कंकालपर गिरी।

'माँ! चामुण्डे!' साथ ही पुकारा पण्डितने देवीपीठकी ओर देखकर।

जैसे पूरा विन्ध्यगिरि फट पड़ा हो। भीषण शब्द और ऐसी प्रचण्ड ज्वाला जो पूर्ण ज्वालामुखीके फटनेपर भी दृष्टिमें न आ सके। परंतु पण्डित प्रमत्त नहीं थे। वे विद्युत्के समान भैरव स्वामीको अपने पीछे करके आराध्यपीठके सम्मुख गिरे और पुकार उठे—'माँ! क्षमा कर दे इस साधुको।'

करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा, विश्वभीषणा, चामुण्डा अपने आराध्यपीठपर जिह्वा लप्लप् करती प्रत्यक्ष खड़ी थीं। उनके हाथका उठा खेटक स्तम्भित हो गया था।

'माँ! तेरी यह कालीखोह अब किसी निरीह मानव या पशुके रक्तसे अपवित्र न हो!' सुनन्द पण्डितने उठकर अञ्जलि बाँधी और वरदान माँगा। 'तू इस साधुको क्षमा कर दे और शान्त हो जा!'

'जो तेरी इच्छा!' देवीकी वह मूर्ति जब अन्तर्हित हो गयी, तब सुनन्द पण्डितने घूमकर देखा—भैरव स्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं। उनके मस्तकसे कुछ रक्त निकल आया है। अबतक खोहके एक कोनेमें अपराधी कुत्तेके समान दुबका वैताल आगे बढ़ आया। उसने आधे पलमें अपनी काली जिह्वासे भैरव स्वामीके मस्तकसे निकला रक्त चाट लिया और अदृश्य हो गया।

भैरव स्वामी उठे एक अशक्त पुरुषके समान। सुनन्द पण्डितके पीछे मस्तक झुकाये वे चल पड़े। खोहसे निकलते-निकलते सिंहनीकी ओर देखकर पण्डितने फिर भैरव स्वामी-की ओर देखा और बोले—'देवि! तुम्हारा भाग तो वैताल चाट गया। अब तुम वनमें अपने आहारका अन्वेषण करो।'

× × ×

भैरव स्वामी फिर विन्ध्याचलमें देखे नहीं गये। विन्ध्याचलकी शाक्तमण्डली सुनन्द पण्डितके तर्क मान लेगी, यह आशा तो कभी नहीं थी; किंतु कालीखोहमें बंद हो गयी और बंद है।

( १ )

## सबमें भगवान् हैं

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें । हमलोगोंका जन्म भारतवर्षमें हुआ है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है इसलिये हमारा सौभाग्य है । भगवान्की यह हमपर बड़ी कृपा है, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु भगवान्के लिये तो भारत और भारतेतर सभी देश—अनन्त ब्रह्माण्डका प्रत्येक स्थान समान है तथा सब स्थानोंके निवासी चराचर सभी जीव उनके अपने हैं । सच्ची बात तो यह है कि भगवान्की दृष्टिमें उनके अपने सिवा और कुछ है ही नहीं—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' ।

हम यदि अपनेको भगवान्की संतान मानें तो जीव-मात्र सभी उनकी प्रिय संतान हैं । वे ही सबके एक-मात्र परम पिता या वात्सल्यमयी माता हैं । माता-पिता-को अपने सभी बालक प्रिय होते हैं । उनका सभीपर स्नेह और वात्सल्य है । वे सभीका हित चाहते हैं और सभीको सुखी बनाना चाहते हैं । इस दृष्टिसे जगत्के हम सभी जीव परस्पर भाई-बहिन हैं, फिर चाहे हम भारतमें जन्मे हों या यूरोपमें, अमेरिकामें अथवा ईरान-अफगानिस्तानमें एवं हम सभीको परस्पर एक-दूसरेके हितकी इच्छा करनी चाहिये और एक दूसरेको सदा सुख पहुँचानेका प्रयत्न करना चाहिये । जिनका हृदय वात्सल्यसे भरा है, वे माता-पिता उस पुत्रपर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं, जो अपने दूसरे भाई या भाई-बहिनोंको दुखी देखकर, उन्हें दुखी बनाकर, सुखी होना चाहता है । 'हिंदू सुखी रहें और सब सुखसे वञ्चित हों; भारतवासी सुख-सम्पन्न रहें, अन्य देश-वासी दुःख भोगें; मनुष्य सुखी हों, इतर प्राणी सुख प्राप्त न करें । बल्कि सभीका सुख उनसे निकलकर हमारे पास आ जाय, उनका दुःख ही हमारा परम सुख बन जाय ।' ऐसी भावना कितनी पापमयी है और परम पिता भगवान्को कितना अप्रसन्न करनेवाली है, इसपर जरा गहराईसे विचार करें ।

हमारे यहाँ तो यह सिद्धान्त माना गया है और यह सत्य है कि चराचर सभी रूपोंमें—अखिल जगत्के रूपमें हमारे भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं । सब वही हैं या सब उन्हींके शरीर हैं—वे सबमें सदा समान-भावसे विराजमान हैं । अतएव किसी भी जीवको सुख पहुँचाना उनको सुख पहुँचाना है, किसीकी सेवा करना उन्हींकी सेवा करना है । किसीको प्रणाम करना उन्हींको प्रणाम करना है और इसी प्रकार किसीको दुःख पहुँचाना, किसीकी हानि करना और किसीका तिरस्कार करना उन्हींको दुःख पहुँचाना, नुकसान पहुँचाना और तिरस्कृत करना है । वेदका पवित्र आदेश है—

**ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥**

( शुक्लयजु० ४० । १ )

इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है, उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो । आसक्त मत होओ । धन किसका है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च**
**ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।**
**सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं**
**यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥**

( ११ । २ । ४१ )

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सभी

भगवान्‌के शरीर हैं। ऐसा समझकर जो कोई भी मिले, उसे अनन्यभावसे प्रणाम करे।

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**
**( ६ । ३० )**

जो सर्वत्र ( सम्पूर्ण प्राणियोंमें ) मुझको देखता है और सब ( प्राणियोंको ) मुझमें देखता है उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।

इन सब शास्त्रवाक्योंपर ध्यान देकर हमें ऐसा बनना चाहिये कि जिससे हमारी क्रियामें, हमारे वचनमें और हमारे मनमें भी कभी किसीके अहितकी कल्पना भी न आवे; किसीको दुखी देखकर सुखी होनेका असत् तथा पापमय संकल्प कभी न उठे। यह निश्चय मान लेना चाहिये कि जिससे दूसरेका अहित या उसको दुःख होगा, उससे हमारा हित या हमको सुख कभी हो ही नहीं सकता। उचित तो यह है कि अपने पास जो कुछ सुख-सामग्री हो, उसे, जहाँ उस सुख-सामग्रीके अभावसे दुःख फैला है, वहाँ बाँटते रहें। उनकी अपनी वस्तु समझकर आदरपूर्वक उनको देते रहें और इसीमें अपनेको तथा उस सुख-सामग्रीको धन्य समझें। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द मया तुभ्यं समर्पयेत्।' शेष भगवत्कृपा।

( २ )

## मानवताकी रक्षा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी समझसे मनुष्य पहले मनुष्य है, फिर वह किसी सम्प्रदायका अनुयायी है। जिस मनुष्यने अपने मनुष्यत्वको खो दिया, वह किसी विशिष्ट सम्प्रदायका अनुयायी भी कैसे माना जा सकता है। सत् सम्प्रदाय तो वस्तुतः मनुष्योंके ही होते हैं। मनुमहाराजने मानवके लिये दस धर्म बतलाये हैं—

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**
**( ६ । ९२ )**

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीकी वृत्तिका अभाव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।*

जिनमें ये गुण मौजूद हैं और जो इन गुणोंके सम्पादनमें लगा हुआ है, वही मानव है। जो दूसरेका बुरा चाहता है, बुरा करता है, सम्प्रदायभेदसे द्वेषयुक्त होकर किसीसे घृणा करता और उसके धर्मपर आक्षेप करता है, वह तो मानवतासे गिरता है। उसे धर्मात्मा कैसे माना जाय।

किस धर्ममें भगवान्‌का क्या स्वरूप माना गया है, सृष्टिके निर्माणका क्या क्रम माना गया है। इसको लेकर झगड़नेकी आवश्यकता साधारण मनुष्यको नहीं है। इसका तर्क-वितर्क या तो गम्भीर विचारवाले दार्शनिक कर सकते हैं या झगड़ालू प्रकृतिके लोग। साधारण मनुष्य तो अपने सीधे मार्गसे चलता रहे। खण्डन-मण्डनमें पड़े ही नहीं। यही उसके लिये सुभीतेकी बात है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रक्खे कि उसके उस मार्गमें चलनेसे मनुकथित उपर्युक्त दस मानवधर्म अथवा श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी सम्पत्तिके गुण कम तो नहीं हो रहे हैं; यदि वे कम हो रहे हैं तो अपने मार्गपर विचार करना चाहिये और जिस किसी सत्पुरुषपर श्रद्धा हो, उससे पूछकर मार्गकी भूल-को मिटानेका प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, चुपचाप अपने मार्गपर चलते रहना चाहिये।

* इनकी विशेषरूपसे व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'मानव-धर्म' नामक पुस्तक कहींसे खरीदकर ध्यानसे पढ़नी चाहिये। मूल्य ≈) है।

आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीरामका या विष्णुभगवान्‌का ध्यान करनेके समय यदि श्रीकृष्णका ध्यान होने लगे तो आपको यही मानना चाहिये कि भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं। इनके लीलास्वरूप भिन्न हैं, तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। भगवान् इस सिद्धान्तका निश्चय करानेके लिये ही श्रीकृष्णरूपमें मेरे ध्यानमें आये हैं। साधकको सदा सावधान रहना चाहिये—न तो वह अनेक भगवान् माने और न भगवान्‌के किसी रूपको भगवान् न माने। वह यदि श्रीरामके स्वरूपका उपासक है तो यह माने कि मेरे भगवान् श्रीराम ही कहीं विष्णुरूपमें, कहीं शिवरूपमें, कहीं श्रीकृष्णरूपमें, कहीं गणेशरूपमें, कहीं सूर्यरूपमें, कहीं जगदम्बारूपमें और कहीं नाम-रूपरहित निर्गुण निराकार निर्विशेषरूपसे उपासित होते हैं। इसी प्रकार श्रीविष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, गणेश, सूर्य, देवी और निराकार निर्गुणके उपासक समझें। हम भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना करते हैं, वही भगवान् हैं, दूसरे लोगोंके उपास्यरूप भगवान् नहीं हैं, ऐसा मानते हैं तो हमारे भगवान् हमारी उपासनाकी सीमातक ही रह जाते हैं। हम स्वयं ही अपने भगवान्‌को छोटा बना लेते हैं और यदि यह मानें, अलग-अलग सब भगवान् हैं तो भगवान् अनेक हो जाते हैं, कोई भी एक भगवान् नहीं रहते। अतएव अनन्यताका यही भाव है कि 'उपासना भगवान्‌के एक ही नाम-रूपकी करें और भगवान्‌के दूसरे सब नाम-रूपोंको उन्हीं भगवान्‌के नाम-रूप समझें। किसीका विरोध नहीं, खण्डन नहीं और अपने उपास्यमें नित्य अनन्यनिष्ठा।

परंतु जान-बूझकर इष्टके स्वरूप और नामको बार-बार बदलना नहीं चाहिये। इससे मनकी एकाग्रता तथा इष्टनिष्ठामें बाधा आती है। तत्त्वतः एक मानते हुए ही, यथासाध्य एक ही स्वरूपको सर्वोपरि परम इष्टदेव मानना तथा सदा-सर्वदा उसीके नामका जप करना चाहिये। इससे साधनमें सुविधा होती है। शेष भगवत्कृपा।

( ३ )

## हृदयपरिवर्तन तथा प्रेमप्राप्तिका साधन

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। आपने अपने घरकी परिस्थिति लिखी सो अवश्य ही शोचनीय है। इस परिस्थितिके सुधारके लिये आपको मेरी समझसे यह करना चाहिये। आपको जो घरके सब लोगोंमें दोष दिखायी देते हैं, पहले इसपर विचार करें। क्या आप यह समझते हैं कि उन्हीं लोगोंका सारा दोष है, आप सर्वथा निर्दोष हैं ? गहराईसे देखनेपर आपको अपने दोष भी दिखायी देंगे, एक दोष तो यह प्रत्यक्ष ही है कि आप केवल उन्हींको दोषी मानते और ठहराते हैं। जो यह निश्चय कर चुकता है कि दूसरे ही दोषी हैं, उसकी अपने दोषोंकी ओर दृष्टि जाती ही नहीं। उधर वह देखना जानता ही नहीं। अतएव दूसरोंके दोष देख-देखकर वह जलता-भुनता रहता है। उसमें घृणा-द्वेष तथा क्रोध-हिंसाके भाव बढ़ते रहते हैं और उन्हीं भावोंके अनुसार उसकी क्रिया होती है। वह वाणीसे उनके दोषोंका वर्णन करता है, उनकी निन्दा-चुगली करता है; उन्हें गिराने या दण्ड प्राप्त करानेकी इच्छा और चेष्टा करता है। फलतः दूसरी ओरसे भी वैसी ही चेष्टा होती है एवं कलह भयानक रूप धारण करके सबको दुखी कर देता है। अतएव आप अपने दोषोंकी ओर देखनेकी चेष्टा करें। उनके दोषों, अवगुणोंकी ओर न देखें। वे 'अपने कर्तव्यपालनमें त्रुटि ही नहीं करते हैं, कर्तव्यके विपरीत अन्याय कार्य करते हैं'—ऐसी बात न सोचें। उनसे सुखकी आशा ही न करें और उनके प्रति आपका

जो कर्तव्य हो, उसे सावधानी तथा उदारताके साथ पूरा करें। उनको सुख हो, इस बातका ध्यान रक्खें तो सम्भव है, कुछ दिनोंमें उनका हृदय बदल जाय और उनसे आपको सद्व्यवहार प्राप्त होने लगे।

एक बात और विचारणीय है। जिसको घरमें, घरवालोंसे, सम्बन्धियोंसे अधिक सुख-सुविधा मिलती है, उसकी सहज ही घरमें तथा घरवालोंमें आत्मीयता तथा आसक्ति बढ़ जाती है और आसक्तिमें फँसा हुआ मनुष्य संसार-सागरसे तरनेकी इच्छा ही नहीं करता। अतएव आपको इसे भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये कि जो ऐसी परिस्थिति प्राप्त हो गयी, जिससे आपको घरवालोंकी मोह-ममतासे युक्त होकर वैराग्यसाधन-का और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका सुअवसर मिला। इसके लिये भगवान्‌का कृतज्ञ होना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थितिद्वारा लाभ उठानेवाला ही बुद्धिमान् है। किसीके प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध नहीं करना चाहिये; न कभी किसीका बुरा ही चाहना चाहिये। वरं शान्तिके साथ पता लगाना चाहिये कि मुझमें ऐसा कौन-सा दोष है या कौन-सी ऐसी भूल है, जिससे इन लोगोंके मनमें बार-बार क्षोभ पैदा होता है। भगवान्‌से प्रार्थना करके यदि आप सच्चे हृदयसे अपनी भूलको जानना चाहेंगे तो आपकी भूल आपके सामने आ जायगी और फिर, भूलके जान लेनेपर प्रतिज्ञा करके आप उस भूलको मिटानेमें लग जाइये। असली बात तो यह है कि भूलको भूल जाननेसे ही भूल मिट जाया करती है। परंतु यदि आदतमें कोई दोष हो तो उसका विरोधी अभ्यास करके उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न कीजिये। आप ऐसा करेंगे तो उन लोगोंके क्षोभकी जड़ ही कट जायगी। यों आप अपनेको तथा घरभरको पाप-तापके गहरे समुद्रमें डूबनेसे बचा लेंगे। आप सुखी हो जायँगे और भगवान्‌का आशीर्वाद तो आपको प्राप्त होगा ही।

याद रखिये—हृदयका शुभ परिवर्तन तथा प्रेमका और परिणाममें दिव्य आनन्दका प्रादुर्भाव किसीके दोष-दर्शन, दोषकथन, दोषचिन्तन अथवा घृणा या द्वेष-बुद्धिसे कभी नहीं हो सकता। वह तो त्याग, सेवा तथा नम्रतापूर्ण सत्य तथा हितयुक्त सद्व्यवहारसे ही होता है—शेष भगवत्कृपा।

---

# प्रभु राम वही घनश्याम वही

( रचयिता—श्रीसूर्यबलीसिंहजी दसनाम, एम्० ए०, साहित्यरत्न )

जगदीश जनार्दनकी जगती, जगती जिसकी जग-ज्योति निराली।
जिसके सुर सेवक हैं शशि सूर्य शचीश अहीश सतीश कपाली॥
विधि जो बनके रचता रहता निशिवासर सृष्टि चराचरवाली।
करता रहता प्रतिपालन-लालन जो बन विष्णु पराक्रमशाली॥
करमें कर काल प्रचण्ड अखण्ड किया यमको जिसने बलशाली।
गति मारुतको मति भारतिको धृति दे करके जिसने क्षिति पाली॥
अखिलेश अनादि अनन्त अनूप अगोचर गोचर भी छबिशाली।
रघुवीर वही यदुवीर शरासन बाण लिये मुरली रसवाली॥
पृथिवी-द्विज-धेनु-हितार्थ सदा अवतार उदार वही धरता है।
अघपूर्ण अधर्म-भरे जनका वध दिव्य कला-बलसे करता है॥
रख धर्म महीपर, भूमि भली कर खेल दिखा मनको हरता है।
रण-वीर हुए रणमें डटता, रस-वीर हुए रससे भरता है॥
परब्रह्म कभी शिव-रूप कभी विधि-रूप बना सबको रचता है।
हरि विश्वविमोहन पालन शंख गदाम्बुज चक्र लिये करता है॥
दशभाल-निकन्दन श्रीरघुनन्दनकी न कहीं जगमें समता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही बलराम वही मनमें जमता है॥
सब ठौर स्वयम्भु विराज रहा जलमें थलमें नभमें बसता है।
नर नाहर नाग सुरासुर किन्नर वानर कासरमें लसता है॥
पशुमें खगमें कणमें अणुमें द्युति पावक आतपमें तपता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही 'दसनाम' निरंतर यों जपता है॥

# भद्रा मुद्रा

( लेखक—श्रीजशवन्तराय जयशङ्कर हाथी )

श्रीआदिशंकराचार्य अपने 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमें' गा रहे हैं—

**बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि**
**व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तःस्फुरन्तं सदा ।**
**स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया**
**तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥**

श्रीभोलानाथ, आशुतोष भगवान् शङ्करने दक्षिणामूर्ति-स्वरूप धारण किया, इस सम्बन्धमें कथा है—

भारतकी संस्कृतिका स्रोत बहानेवाले केन्द्रोंमें सर्वप्रधान श्रीनैमिषारण्यमें वर्षोंतक चलनेवाले सत्रयज्ञ हुआ करते थे । 'स्वाहा, स्वाहा'की ध्वनिके साथ-साथ इतिहास-पुराणकी पावन कथाओंके प्रसङ्ग भी वहाँ चला करते थे । बालवयस्क सूत पुराणी कथा कहनेवाले और आबालवृद्ध ऋषि-मुनि सामान्यजन कथा सुननेवाले । उपदेशक महोदय बीच-बीचमें 'अयि बालाः समाहिता भवन्तु' की टेक लगाते रहते थे । कुछ वृद्ध मुनिगण एक बार इस टेकके पुनरावर्त्तनसे रुष्ट हो गये और वे विष्णुभगवान्‌के पास शिकायत करने गये । 'वृद्धोंको बालक कहना क्या उचित है ?' यह प्रश्न भगवान्‌से पूछा । श्रीभगवान्‌ने कहा—'इसका उत्तर ब्रह्माजी देंगे ।' सब वहाँ गये । श्रीब्रह्माजीने कहा—'अपने डमरूनादद्वारा जिन्होंने विद्याओंका प्रचार सर्वप्रथम किया, वे शिवशंकर ही इसका निराकरण कर सकते हैं ।' मुनिगण कैलासको गये ।

सदाशिव योगी ठहरे । उन्होंने अपने रुद्ररूपको त्यागकर 'दक्षिणामूर्त्ति'का सौम्य जगद्गुरु रूप धारण कर लिया और एक विशाल वटवृक्ष-तले वे दक्षिण हस्तमें भद्रामुद्रा और वाम हस्तमें त्रिशूल लेकर मौनव्रतधारी हो समाधिस्थ बैठ गये ।

मुनिगण वृक्षकी सघन छायामें बैठ गये और शिवजीके समाधिसे जाग्रत् होनेकी राह देखते रहे । बैठे-बैठे वे आपसमें इस दृश्यपर विचार भी करने लगे—

सौम्य स्वरूप, समाधिस्थ, मौन ! फिर भी दक्षिण हस्तकी तीन अँगुलियाँ अलग और जुड़ी हुई एवं दूसरी ओर प्रथमा अंगुलीका अग्रभाग अंगुष्ठके अग्रसे मिला हुआ है । इस भद्रा मुद्रासे कोई सांकेतिक उपदेश तो नहीं दिया जा रहा है । विचारधारा और आगे बह चली ।

तीन ताप, तीन गुण, तीन अवस्था, तीन आयु—इन सारी त्रिपुटियोंको पार करके, 'अ उ म' की तीक्ष्ण त्रिशूल-धारसे छेदन करता हुआ, जो जीवात्मा एकाग्र चित्त होकर परमात्मा—अंगुष्ठमात्रपुरुषः—की ओर झुक नहीं जाता, वह उपदेश सुनते हुए भी अबोध ही है । इसलिये वह 'बाल ही है ।' हम यदि कथारसमें तल्लीन होते तो 'अयि बालाः' का नाद हमारे कानोंका स्पर्श करनेपर भी, हम उसे सुनते ही नहीं । और न हमें रोष आता ।

वाह री संकेत करनेवाली मुद्रा भद्रा—कल्याणकारिणी मुद्रा । गुरु मौन, फिर भी शिष्योंका संशय छिन्न हो गया ।

नीचेके श्लोकोंमें इसी चित्रकी झाँकी भलीभाँति झलक रही है—

**वटविटपसमीपे भूमिभागे निषण्णं**
**सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात् ।**
**त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्त्तिदेवं**
**जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि ॥**
**चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।**
**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥**
**ॐ नमः प्रणवार्थाय शुद्धज्ञानैकमूर्त्तये ।**
**निर्मलाय प्रशान्ताय दक्षिणामूर्त्तये नमः ॥**
**निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम् ।**
**गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्त्तये नमः ॥**

## सरल, सुन्दर, सचित्र, सस्ती, बालोपयोगी शिक्षाप्रद पुस्तकें

१–**पिताकी सीख**–लेखक श्रीहनुमानप्रसाद गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, पृष्ठ-संख्या १५२, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... .... |=)

२–**बड़ोंके जीवनसे शिक्षा**–आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या ११२, सुन्दर रंगीन टाइटल, मूल्य |=)

३–**पढ़ो, समझो और करो**–छोटी-छोटी शिक्षाप्रद ९१ घटनाओंका संग्रह, पृष्ठ १४८, मूल्य |=)

४–**चोखी कहानियाँ**–उपदेशप्रद और मनोरञ्जक ३२ कहानियाँ, आकार २०×३० आठ-पेजी, पृष्ठ-संख्या ५२, सुन्दर तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... |-)

५–**उपयोगी कहानियाँ**–सुन्दर उपदेशप्रद ३५ कहानियाँ, पृष्ठ-संख्या १०४, दोरंगा मुखपृष्ठ, मू० |-)

६–**भगवान श्रीकृष्ण [ भाग १ ]**–श्रीकृष्णकी मधुर तथा अद्भुत लीलाओंका मनोरञ्जक वर्णन, पृष्ठ-संख्या ८८, १२ सादे तथा १ बहुरंगा चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... |-)

७–**भगवान श्रीकृष्ण [ भाग २ ]**–कंस-वधके आगेकी लीलाओंका वर्णन, पृष्ठ ६४, १ बहुरंगा तथा १० इकरंगे चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... |-)

८–**भगवान राम ( भाग १ )**–रामायणके आधारपर भगवान रामकी आदर्श लीलाओंका सुन्दर रुचिकर वर्णन । पृष्ठ-संख्या ५२, तिरंगा १ तथा ७ इकरंगे चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... |)

९–**भगवान राम ( भाग २ )**–वनवासके आगेकी लीलाओंका सुन्दर वर्णन । १ तिरंगा तथा ७ इकरंगे चित्र, पृष्ठ ५२, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... |)

१०–**बालकोंकी बातें**–बालकोंके लिये बड़े कामकी चीज है । मोटे टाइप, पृष्ठ-संख्या १५२, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... |)

११–**वीर बालक**–२० वीर बालकोंके जीवन-चरित्र, पृष्ठ ८८, मूल्य .... .... |)

१२–**सच्चे और ईमानदार बालक**–पृष्ठ-संख्या ७६, सुन्दर टाइटल, मूल्य .... .... |)

१३–**गुरु और माता-पिताके भक्त बालक**–गुरुभक्त तथा मातृ-पितृ-भक्त बालकोंके उपदेश-प्रद प्रसंग, पृष्ठ-संख्या ८०, सुन्दर रंगीन टाइटल, मूल्य .... .... |)

१४–**वीर बालिकाएँ**–१७ वीर बालिकाओंके आदर्श चरित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य .... ≡)

१५–**दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ**–२३ छोटी-छोटी जीवनियाँ, पृष्ठ ६८, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य .... .... ≡)

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग । यहाँ आर्डर भेजनेके पहले स्थानीय विक्रेतासे माँगिये । इससे समय और खर्चकी बचत होगी ।

**सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये ।**

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )**

रजि० सं० ए० १७५

# 'तीर्थाङ्क'के लिये निवेदन

'कल्याण'का सन् १९५७ का प्रथमाङ्क 'तीर्थाङ्क' विशेषाङ्क निकाला जाय, ऐसा विचार पर्याप्त समयसे चल रहा है। सामग्री एकत्र हो गयी तो निकलना सम्भव भी है। इसके लिये बहुतसे तीर्थोंमें हमारे प्रतिनिधि गये भी थे; किंतु इतने महान् कार्यके लिये हमें आप सभीके सहयोगकी आशा है, जिससे 'तीर्थाङ्क' में सभी तीर्थयात्रियोंके उपयोगकी सामग्री दी जा सके। प्राचीन तीर्थ, संततीर्थ, जैनतीर्थ तथा बौद्धतीर्थ—इन सबका विवरण तीर्थाङ्कमें देनेका विचार है। इसके लिये आवश्यक सामग्री एवं जानकारी निम्नरूपोंमें आवश्यक है—

१–तीर्थका विवरण, वहाँके दर्शनीय मन्दिर, पवित्र सरोवर, कूप तथा नदी, घाट आदिका विवरण।

२–सम्भव हो तो मन्दिरों, उनके श्रीविग्रहों, सरोवर तथा घाटादिके छायाचित्र।

३–तीर्थका माहात्म्य, इतिहास और यदि वहाँके पवित्र स्थानोंसे सम्बन्धित कोई चमत्कारिक घटना हो तो उसका विवरण।

४–तीर्थमें या आस-पास किसी प्राचीन आचार्य या प्रसिद्ध संतकी बैठक, मठ या समाधि हो तो उसका विवरण एवं उस स्थानका छायाचित्र।

५–तीर्थके दर्शनीय स्थानोंकी परस्पर दूरी।

६–तीर्थसे निकटतम स्टेशनका नाम और वहाँसे तीर्थके मुख्य स्थानकी दूरी और पहुँचनेके साधन।

७–तीर्थ मोटर बसके मार्गपर हैं तो उसका विवरण।

८–तीर्थमें यात्रीके ठहरनेकी व्यवस्था। धर्मशाला आदिका विवरण और यदि उनमें कोई प्रतिबन्ध हो, जैसे कोई अमुकवर्गके ही लिये हो तो उसका उल्लेख।

९–तीर्थके मुख्य उत्सव एवं मेलोंका विवरण।

१०–वहाँके मन्दिरों आदिमें यदि विशेष पूजा-परिपाटी हो अथवा दर्शनके लिये कोई अनिवार्य फीस हो तो उसका विवरण।

११–उस तीर्थके आसपास जो दर्शनीय स्थान तथा मन्दिर तीर्थादि हों, उनका विवरण एवं उनकी दूरी और वहाँ पहुँचनेके साधन।

१२–यदि उस तीर्थसम्बन्धी साहित्य या चित्रादि कहीं मिल सकते हों तो उस स्थानका पता तथा ऐसे विद्वान्‌का पता जो वहाँके सम्बन्धमें विशेष जानकारी दे सकें।

हम सभी पाठकों विशेषतः तीर्थवासियों एवं मन्दिरोंके अध्यक्षों, ट्रस्टियों, सेवाधिकारियोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे आवश्यक जानकारी तथा सामग्री देकर हमारी सहायता करें। यह सब जानकारी हमें जूनके अन्ततक मिल जाय तो विशेष सुविधा रहेगी।

निवेदक—हनुमानप्रसाद पोद्दार 'सम्पादक'